सूर-समीक्षा

(सूर-साहित्य की मौलिक मार्मिक-समीक्षा)

लेखक

डा० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'

रीडर, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

अग्रवाल प्रेस,
इलाहाबाद

मूल्य ३)

सूर-समीक्षा

(सूर-साहित्य की मौलिक मार्मिक-समीक्षा)

लेखक

डा० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'

रीडर, हिन्दी, विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

अग्रवाल प्रेस,
इलाहाबाद

मूल्य ३)

वक्तव्य

प्रयाग-विश्वविद्यालय में एम० ए० श्रेणी के लिए मुझे कुछ वर्ष पूर्व सूर-साहित्य पर संक्षेप में समीक्षात्मक प्रकाश डालना अभीष्ठ हुआ। अतः उस समय मैंने कुछ व्यापकालोचन मूलक कुछ व्याख्यान दिये, जिनमें सूर-काव्य की मार्मिक तथा मौलिक विशेषताओं के दिखलाने को ही प्रधानता दी, तथा इस बात का विचार रक्खा कि सूर-रचना-राशि के मूल तत्वों, रहस्यों, और साम्प्रदायिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों और विचारों एवं तत्सम्बन्धी भावों अथच भावनाओं के रूपों का यथेष्ठ स्पष्टीकरण भी हो जाये, और कतिपय भ्रमात्मक शंकाओं का संक्षेप से समाधान भी हो सके। सूर पर किये गये कुछ मिथ्यानर्गल आक्षेप भी अन्यथा हो जायें ।

साथ ही समुत्सुक सहृदय साहित्यानुरागी समुचित रूप से सूर-साहित्य के देखने-परेखने का मार्ग ग्रहण कर सकें । एक बंधे बँधाये ढंग से ही देखते हुए चर्वित-चर्वण-परिपाटी को छोड़ मौलिक रूप में सूर की रम्य रचनायें देखे और यथोचित रूप में उनका अर्थ समझ उन पर टीका-टिप्पणी करते हुए अपने युक्ति-युक्त और नीति-रीति-संगत विचार व्यक्त कर सकें । यह भी वे समझ सकें कि, प्रथम खेवे के आलोचक (तथा कथित) केवल एक मार्ग बना रहे थे, वह भी साधारण रूप में, उनका उद्देश्य उस समय हिन्दी-काव्य की ओर आकर्षित करने का था, उसकी गंभीर और गूढार्थ-सूचक मार्मिक समालोचना करना न था। शीघ्रता से उच्च कक्षाओं के लिए पथ-प्रदर्शिका सामान्यालोचना ही वे उपस्थित कर सके, क्योंकि हिन्दी

ने उच्च श्रेणियों में प्रवेश प्राप्त कर लिया; विद्यार्थी और बढ़ चले थे। परिणाम किन्तु कुछ और ही हुआ, विद्यार्थियों और शिक्षकों ने भी उन्हीं आलोचनाओं को कंठस्थ साही कर लिया और उनसे आगे चलने का प्रयास ही छोड़ दिया। बराबर पिष्ट-पेषण-परम्परा चलती आई और आज भी चल रही है। इस कारण प्रायः विद्यार्थी और अन्य पाठकों ने भी सूर, तुलसी जैसे महात्मा कविवरो तथा भक्त प्रवरों के साहित्य को भी यथास्यात्तथा रूप में नहीं देखा। खेद तो यह है कि इन पर गवेषणा-कार्य भी हुआ, किन्तु वह कार्य भी चलते हुए ढंग पर हुआ—जीवनी, पाठान्तर, समय-निर्णयादि ही पर विशेष वल दिया गया, रचना-रहस्य, काव्य-कौशल आदि का मार्मिक अध्ययन बँधी हुई परिपाटी से कुछ विशेष बाहर न गया। साधारण रूप में ही रचनाओं को देख-सुनकर आलोचना कर दी गई—कुछ चारुता-चित्रता की ओर संकेत सा कर दिया गया। पाश्चात्य शैली के प्रभाव को वलात् इन पौर्वात्य पद्धति-पलित काव्यों पर आरोपित करने का प्रयास किया गया और वही चाहा-सराहा भी गया—बिना यह देखे कि क्या अनर्थ हो रहा है।

इन्हीं बातों को देखकर यह व्याख्यान दिये गये थे। इन्हें मेरे विद्यार्थी श्री० रमेशचन्द्र शुक्ल ने लिख लिया और श्री० उमाशंकर शुक्ल से सहायता लेते हुए व्यवस्थित रूप में रख कर मुझे दिखलाया। मैंने यथास्थान कुछ न्यूनाधिक सुधार-संशोधन कर इन्हें इस प्रकार पुस्तक के रूप में कर दिया। इस पुस्तक का इस प्रकार संपादन-कार्य उक्त प्रियवरों ने ही किया है। उन्हें मैं साधुवाद देना ही ठीक समझता हूँ—न कि धन्यवाद।

हाँ यहाँ यह और कहना चाहता हूँ कि इसमें कलेवर-वृद्धि के भय से उदाहरण नहीं दिये जा सके, कहीं अत्यावश्यक स्थलों पर कुछ

सांकेतिक पंक्तियाँ ही उद्धत कर दी गई हैं और यह आशा की गई है कि साहित्य-सेवी पाठक उपयुक्त उदाहरण स्वयमेव देख-चुन चुके होंगे, अतएव समझ लेंगे। यह और कहना है कि इसमें केवल संकेत-रूप में ही कुछ समीक्षा-सारांश दिया गया है और कुछ मूलभूत सैद्धान्तिक पक्ष का संक्षेप में कथन करते हुए उसकी सूर-पदों पर चरितार्थता ही कीओर अंगुल्यानिर्देश किया गया है। आशा है सुयोग्य-पाठक अपनी ओर से आगे सूर-काव्य की इसी दृष्टि-कोण से विवेचनालोचना कर सकेंगे।

सूर और तुलसी की रचनाओं के अभी सुसंपादित सुन्दर सस्करण ही सुलभ नहीं, उनका यथार्थता के साथ संगति-विचार से अध्ययन और विवेचन नहीं हो सका, इनकी यथेष्ट टीकायें भी नहीं, जिनसे अर्थानर्थ का निर्णय हो सके। आवश्यकता है इस कमी की पूर्त्ति की, मेरी इच्छा अवश्यमेव सूर और तुलसी पर विस्तृत विवेचनात्मक आलोचनाओं के लिखने की है, तुलसी-काव्य पर मैं लिख भी रहा हूँ—आशा है शीघ्र उपस्थित कर सकूंगा। सूर पर भी इसी प्रकार विशेष कार्य करने का विचार है—सामग्री एकत्रित कर ली है—देखें ईश्वर कब काम पूरा करता है।

मुझे आशा है इस छोटी पुस्तक से कुछ मार्ग-प्रदर्शन हो सकेगा यही इसका उद्देश्य भी है।

सागर विश्वविद्यालय

१-३-५३

बुधजनस्नेहकांक्षी

रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'

काव्य और काव्य-भेद

मानव-हृदय में यों तो कितनी ही मनोवृत्तियाँ स्वभावतः रहती हैं और उसे विविध प्रकार के कार्यों के लिये निरन्तर ही प्रेरित करती रहती हैं, किन्तु उन मनोवृत्तियों में से सब से अधिक प्रधान दो मूल मनोवृत्तियाँ हैं, इन्हें वस्तुतः मनोवृत्तियाँ न कह कर आत्मवृत्तियाँ यदि कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि इनका सम्बन्ध मन से अधिक न होकर सीधे आत्मा से ही अधिक है। इनमें से पहली मनोवृत्ति तो अनश्वर आत्मा के संस्कार-रूप में आती है। माना गया है कि आत्मा अमर है, इसलिये अमरत्व की भावना-वृत्ति और अमरत्व का विचार उसमें निरन्तर ही रहता है।

इसी विचार से प्रेरित होकर आत्मा अपने सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के शरीरों को कार्य में लगाता है। इसी की प्रेरणा से मानव ने अनेक ऐसी कलाओं और विद्याओं को जन्म दिया है जिनके कारण उसके नाम को स्थायित्व और सार्थकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि उसका भौतिक शरीर तो स्थायी नहीं है, और यह एक अनुभव-जन्य सत्य है कि भौतिक शरीर को किसी प्रकार भी स्थायित्व नहीं दिया जा सकता है।

मंजु मन्दिर, सुन्दर सौध, प्रशसंनीय प्रासाद, कमनीय कूप-तडाग और सराहनीय स्तूपादि भौतिक साधनों तथा काव्य-कला, साहित्य आदि मानसिक साधनों के द्वारा मनुष्य ने न्यूनाधिक रूप से मृत्यु के ऊपर विजय सी प्राप्त करते हुए उसके हाथों से अपने नाशवान शरीर के

विनष्ट हो जाने पर भी अपने नाम को इस नश्वर संसार में चिरस्थायी करने या रखने का प्रबल प्रयत्न किया है।

आज भी ऐसे अमरत्व-प्रदायक चारु चिन्ह संसार में उनके रचयिताओं को जीवित सा बनाते हुए उपस्थित हैं। काव्य आदि साधनों के द्वारा भी इसी प्रकार मनुष्य ने अपने को स्थायित्व प्रदान करने की चेष्टा की है और इसमें सन्देह नहीं कि इन साधनों के द्वारा भी बहुत-कुछ उसने अपने नाम को कठिन कराल काल के गालों और हाथों से बचा लिया है।

मनुष्य की दूसरी प्रधान मनोवृत्ति वह है जो निरंतर ही आत्मा को दिव्यालौकिक आनन्द की ओर बढ़े चलने के लिये प्रेरित और प्रोत्साहित करती है। यह मनोवृत्ति भी आत्मा के संस्कार के ही रूप में रहती है क्योंकि आत्मा परमानन्द-स्वरूप परम आत्मा का ही एक अंश या रूप मात्र है। यह मनोवृत्ति आनन्द-प्रियता की मनोवृत्ति कही जाती है। आनन्द परम आत्मा या ब्रह्म का सत्य स्वरूप सा है। इसी आनन्द की प्राप्ति के लिये मनुष्य अथवा आत्मा विविध प्रकार के कार्य अथवा प्रयत्न करता है। आनन्द के मुख्यतया दो रूप या प्रकार हैं :-प्रथम रूप तो शुद्ध, सात्विक और आत्मा-सम्बन्धी है, जिसे अलौकिक आत्मानन्द और जिसके और भी ऊँचे स्वरूप को ब्रह्मानन्द अथवा परमानन्द कहते हैं। इस आत्मानन्द का जो आभास मन पर आता है वही उत्कृष्ट शुद्ध सात्विक मानसिक सुख कहा जाता है। माया-जन्य अन्य विकारों से विकृत मन में जो सुखानुभूति होती है, वह निम्न श्रेणी के संतुष्टि-सुख के रूप में होती है। केवल ऐन्द्रिक तृष्णाओं की संतुष्टि से होने वाली सुखानुभूति और भी निम्नतम श्रेणी की है। आनन्द की अनुभूति आत्मा को ही होती है, मन को नहीं। चूँकि योग और आध्यात्मिक उपायों को छोड़ कर अन्य उपायों से इस आनन्द की प्राप्ति नहीं होती इसलिये आत्मानन्द का वह रूप, जिसे ब्रह्मानन्द

कहते हैं (ब्रह्म और आत्मा में कोई अन्तर न मानने पर) केवल आध्यात्मिक ज्ञान और आध्यात्मयोग से ही साध्य कहा गया है।

इस ब्रह्मानन्द से नीचे आकर वह आनन्द है जिसकी अनुभूति शुद्ध आत्मा को उस दशा में ही होती है जिस दशा में वह अपने वास्तविक रूप को प्राप्त होकर स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों से सर्वथा मुक्त हो जाता है अर्थात् उसका सम्बन्ध न तो स्थूल इन्द्रियों से ही रहता है और न अन्तःकरण-चतुष्ठय तथा तदन्तर्गत सूक्ष्मेन्द्रियों से ही रहता है। ऐसी दशा स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों के परित्याग से या तो होती है या दोनों प्रकार के शरीरों को रखते हुए भी उनमें से किसी से भी कोई सम्बन्ध न रखने पर होती है। प्रथम दशा को मोक्ष, मुक्ति, अपवर्ग या निर्वाण कहते हैं और दूसरी अवस्था को जीवन-मुक्ति की स्थिति अथवा विदेहता की दशा कहते हैं। इनमें से किसी भी दशा प्राप्त करना ही मानव जीवन का प्रमुख उद्देश्य और प्रबल पुरुषार्थ कहा जाता है।

जितनी भी अन्य विद्यायें और कलायें इस विश्व में हैं अथवा जितने भी अन्य मानवीय साधन हैं उन सबों में से विशेषतया काव्य ही एक ऐसा साधन है जो इस द्वितीय श्रेणी की आनन्दावस्था तक पहुँचा सकता है। इसी विचार से इस ब्रह्मानन्द-सहोदर अथवा आत्मानन्द को ही काव्य का प्रमुख एक प्रयोजन माना गया है। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए शब्दों तथा तद्विरचित वाक्यों आदि की आवश्यकता कुछ विशेष नहीं होती। एक शब्द ही इस आनन्द तक पहुँचा सकता है। सम्भवतः इसी विचार से काव्य की एक मुख्य प्राचीन परिभाषा में कहा गया है:—"रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीयार्थ का प्रतिपादक शब्द (शब्द पद एक वचन है) केवल एक ध्वनि अथवा नाद के रूप में स्वर और वर्ण अथवा कतिपय ऐसी ध्वनियों की समिष्टि, जिनसे कोई सार्थक शब्द भी प्रकट हो, काव्य

होता है। प्रथम विचार तो शब्द-ब्रह्म अथवा नाद-ब्रह्म के सिद्धान्त की ओर चला जाता है और दूसरा भाषा से व्यक्त होने वाले काव्य के सिद्धांतों की ओर आ जाता है।

यह स्मरणीय है कि आनन्द-स्वरूप परमात्मा सत्य, आनन्द और ज्ञान-स्वरूप है। अतः एक विचार तो यह है कि आनन्द, सत्य और ज्ञान तीनों अन्ततोगत्वा एक ही हैं। ज्ञान ही आनन्द है यदि वह ज्ञान सत्य है। इस विचार से आनन्द देने वाला काव्य केवल सत्य ज्ञानात्मक ही हो सकता है अर्थात् वह काव्य केवल सत्य ज्ञानानन्द-स्वरूप परम आत्मा से ही सम्बन्ध रख सकता है। इसी विचार को लेकर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने मानस की भूमिका में काव्य की परिभाषा देते हुए लिखा है :—

"हृदय सिंधु मति सीप समाना,
सारद स्वाती कहँहिं सुजाना।
जो बरसै बर बारि-बिचारू,
होंहिं कवित मुकता मनि-चारू।
जुगति बेधि पुनि पोहिये, राम चरित बर ताग।
पहिरहिं सजन बिमल उर, सोभा अति अनुराग।"

यहाँ यह भी कह देना समीचीन होगा कि परमआत्मा-स्वरूप आनंद ही रस की भी संज्ञा रखता है अर्थात् रस और आनन्द दोनों एक ही हैं। इसी विचार से रस-शास्त्रियों ने रस को अलौकिक और लौकिक दो रूपों में माना है। लौकिक रस से तात्पर्य वस्तुतः मानसिक सुख से ही है और अलौकिक रस से ईश्वरानन्द और आत्मानन्द से प्रयोजन है। इस प्रकार काव्य के क्षेत्र में रमणीयार्थ के साथ ही साथ शब्द में रस के समावेश का होना भी अनिवार्य ही सा हो जाता है।

यद्यपि काव्य-शास्त्र के विचारवान आचार्यों ने उक्त सिद्धान्त के

आधार पर काव्य की विवेचना और आलोचना बड़ी ही मार्मिकता से की है तथापि आगे चलकर लौकिकता का जो प्रभाव काव्य पर पड़ता गया उसे देखकर काव्य-शास्त्र के अन्य परवर्ती आचार्यों को काव्य के प्रयोजन अथवा उद्देश्य पर भी लौकिकता का आवरण रखना पड़ा। यहाँ तक कि आगे काव्य की उद्देश्य-पूर्ति को यश, व्यवहार कल्याण, लौकिक धन आदि की प्राप्ति के रूपों में भी मानना पड़ा। इनसे भी नीचे गिर कर केवल निम्न श्रेणी के मानसिक सुख अथवा ऐन्द्रिक सन्तोष के रूप में हार्दिक हर्षोल्लास को ही काव्य का लक्ष्य कहा गया। सारांश यह है कि काव्य और काव्या-शास्त्र दोनों ही आत्मानन्द-स्वरूप उच्च उद्देश्य से शनैः शनैः नीचे उतरते हुए ऐन्द्रिक सुख तक चले आये। काव्य केवल मानसिक वासनाओं की काल्पनिक संतुष्टि से भी आगे केवल क्षणिक कौतुक-कुतूहलमय आमोद-प्रमोद मनोविनोद तक भी पहुँच गया।

उक्त विचार के आधार पर काव्य के भेद अब इस प्रकार हो जाते हैं :—प्रथम तो उच्चकोटि का वह काव्य है जो सर्वोत्कृष्ट अलौकिक आनन्द का देने वाला शब्दात्मक सा है। इसके अन्तर्गत वैदिक काव्य, आर्ष काव्य और गीता जैसे काव्य लिये जा सकते हैं। वर्णात्मक उत्कृष्ट शुद्ध सात्विक मानसिक सुख देने वाला काव्य द्वितीय श्रेणी में आता है। इस प्रकार के काव्य का सम्बन्ध परम आत्मा तथा उसकी विशेष ललित लीलाओं से रहता है और इसमें परमात्मा का वह रुचिर रूप चित्रित होता है, जिसमें मानव-मन का श्रेष्ट स्वरूप अथवा आदर्श स्वरूप प्रायः पूर्णता के साथ रहता है। या यों भी कह सकते हैं कि भगवान के अवतारों की लीलाओं का ललित वर्णन ही इस काव्य में प्रधान रहता है।

तृतीय श्रेणी में वह काव्य आता है जिसमें विचारगत या कल्पनागत उस साधारण मानसिक सुख का ही, जिसमें लौकिकता का पूरा

आभास रहता है, प्राधान्य होता है। आगे चतुर्थ श्रेणी के काव्य में ऐन्द्रिक सुखदायक साधारण लोक-व्यापी मानवीय चरित्र ही कौतुक-कुतूहल के साथ चित्रित किया जाता और जिसमें मानवीय मनोवृत्तियाँ अपना नृत्य और कृत्य किया करती हैं। यह केवल वाग्वैचित्र्य और शाब्दिक सौन्दर्य को चमत्कार-चारुता से रखने वाला विशेष वाक्य-विन्याससंकुलकल कुतूहलकारी कला-काव्य कहा जा सकता है। इसमें कथन-कौशल, वर्णन-वैलक्षण्य और रचना-रीति-चातुर्य ही प्रधान रहता है।

कल्पना के आधार पर स्वभाविकता और कृत्रिमता का सुन्दर सुखद सामंजस्य तो तृतीय और चतुर्थ श्रेणी के काव्यों में भी पाया जाता है, किन्तु पंचम श्रेणी के काव्य में केवल वाग्वैलक्षण्य और उक्ति-वैचित्र्य ही प्रधान होकर काल्पनिक कला-कौशल के साथ अस्वाभाविकता में स्वाभाविकता या वास्तविकता तथा असत्यता में सत्यता का आभास सा दिखलाई पड़ता हुआ मन को केवल कुछ ही तात्कालिक विनोद और क्षणिक कुतूहल ही सा देता है। किन्तु यह नितान्त स्मरणीय है कि काव्य भ्रमात्मक कल्पना-जन्य कृत्रिम केवल कला-पूर्ण सत्य का परिपोषक आनन्दाभासमय शब्द-समुच्चय कदापि नहीं है।

कोई भी कला या विद्या क्यों न हो यदि वह सत्य-ज्ञानानंद की ओर आत्मा को नहीं ले जाती तो भारतीय विचार से वह आर्य और धार्य नहीं। यदि विद्या या कला मनुष्य को उसकी लोक-सीमा से ऊपर नहीं उठाती और मनुष्य को अपनी विशुद्ध वास्तविकता के प्राप्त करने की ओर नहीं चलाती तथा उसे अपने चरित्र को शुद्धोन्नत कर अपने जीवनोद्देश्य के निकट नहीं पहुँचाती तो वह विद्या और कला नितान्त अनुपयोगी, व्यर्थ और त्याज्य ही है। काव्य भी इसी लिये यदि इस प्रकार नहीं करता तो वह सत् काव्य क्या केवल काव्य भी कदापि नहीं हो सकता।

इसलिए कवि और काव्य दोनों ही का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व और मूल्य-महत्व है। उसे न केवल आत्मा को ही अपने सच्चे मूल स्वरूप में पहुँचाना है, वरन् उससे पहिले उसके विकार-विकृत मन को भी स्वच्छ और सुन्दर करना है। मन की तीनों ही वृत्तियों अर्थात् बोधवृत्ति, भावना-वृत्ति और इच्छा-वृत्ति को शुद्ध करते हुए मन को सर्वथा संपुष्ट और संतुष्ट करना है। इसलिये कवि और काव्य दोनों ही में विशेष शुद्धता, निर्विकारता और सात्विकता का होना नितांत अनिवार्य है। उसमें इनका समावेश होना आवश्यक है, तभी वह सर्वत्र सौन्दर्यानन्द रस को देख और दिखा सकता है।

काव्य की इस संक्षिप्त व्याख्या के पश्चात् यहाँ निष्कर्ष-रूप में यह भी कह देना चाहिये कि सत्कवि और सत्काव्य के लिए परमात्मा ही एक मुख्य वर्ण्य विषय है, क्योंकि केवल वही एक वास्तव में यथार्थ सत्ता और महत्ता रखता है, वही सत्य आनन्द सर है और उसी में मन और आत्मा दोनों ही लय होते और हो सकते हैं। परमात्मा ही सत्य, शिव और सुन्दर है, चूँकि वह आनन्द-स्वरूप है इसलिये काव्य में भी उसी के सकाश से सौन्दर्यानन्द का समावेश हो सकता और होता है। साथ ही परमात्मा ही सत्य, मंगलमय और कल्याणमय भी है। अतएव उसी के कारण काव्य भी शिवम् अथवा कल्याणमय हो सकता है।

इसी विचार से काव्य को प्राचीन काल में साहित्य भी कहा गया है। साहित्य, सहित का भाव सूचक शब्द है और सहित का अर्थ है हित या कल्याण (मंगल, शिव) से युक्त। यही कारण है कि संस्कृत और हिन्दी के जितने भी प्रमुख स्मरणीय श्रेष्ठ सत्कवि हुए हैं उन सबों ने परमात्मा को ही अपने काव्य का मुख्य वर्ण्य विषय बनाया है। यह कारण तो वस्तुतः कोई विशेष कारण नहीं और यदि कारण मान भी लिया जाय तो केवल गौण ही कारण ठहरता है क्योंकि

उन्होंने किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय के प्रभाव से भगवल्लीला को अपने काव्य का वर्ण्य विषय नहीं बनाया।

हिन्दी में यदि सूर और तुलसी ने तथा नन्ददास और केशवदास ने ईश्वरावतार और श्रीकृष्ण श्री राम को अपने काव्यों में चित्रित किया है तो उसका मूल कारण विशेषतया साम्प्रदायिक प्रेरणा के ही रूप में न था वरन् प्रेरणा मिली थी उन्हें उक्त उद्देश्य के ही कारण। इसमें कोई भी संदेह नहीं कि प्रमुख धर्माचार्यों ने भी मङ्गलमय सत्य-ज्ञानानन्द-स्वरूप भगवान की सुंदर मूर्ति इसलिये लोक के सामने रक्खी चूँकि इससे लोक का कल्याण होता है। इसी को यदि कहना चाहें तो विश्वमांगल्यकारक धर्म के प्रचार का कार्य भी कह सकते हैं।

धर्म का भी प्रमुख प्रयोजन लौकिक अभ्युदय और अलौकिक रसानंद या मोक्ष का प्राप्त कराना है। इसलिये इस उद्देश्य से सम्बन्ध रखने वाले काव्य को भी धार्मिक काव्य कहा जा सकता है। इस धार्मिक काव्य के भी कई स्वरूप होते हैं। मुख्यतया प्रथम स्वरूप तो इसका वह है जो भूतभावन भगवान के मंगलमय सौन्दर्य के स्वरूप का चारु चित्रण कर मन को पवित्र करता हुआ उसे आनन्दानुभूति की ओर ले चलता है। इस श्रेणी में सूर और तुलसी जैसे महात्मा कवियों के ही काव्य आते हैं। द्वितीय श्रेणी में वह काव्य आता है जो धार्मिक सिद्धान्तों अथवा नियमों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में उपस्थित कर मन को उनकी ओर जाने के लिए प्रेरित करता है। इस श्रेणी के काव्य में नंददास और दूसरे अन्य साधारण भक्तों या सन्तों की साम्प्रदायिक रचनायें आती हैं। तृतीय श्रेणी में केवल धार्मिक रूढ़ियों और परम्पराओं का पिष्ट-पेषण, उनका कोरा अनुकरण अथवा प्रतिपादन ही किया जाता है, साथ ही किसी सम्प्रदाय या पंथ विशेष के सिद्धान्तों का हठवादिता से मंडन या प्रतिपादन और अन्य सम्प्रदायों के विचारों का खंडन सा भी किया

जाता है। इस श्रेणी में कबीर और जायसी आदि की बहुत सी रचनायें आ जाती हैं।

यह भी यहाँ कहा जा सकता है कि सूर और तुलसी ने भी कहीं-कहीं ऐसा ही किया है। किन्तु यह कथन प्रमाद-वचन सा ही होगा। सूर और तुलसी कोई पंथ-प्रवर्तक कदापि न थे, साथ ही वे दूसरे पंथों का खंडन और केवल अपने पक्ष का मंडन ही न करते थे। किन्तु जायसी और कबीर ने ठीक इसके विपरीत किया है। जिस प्रेम और भक्ति की प्रधानता जायसी और कबीर ने दिखलाई है उसी प्रेम और भक्ति को अधिक परिष्कृत तथा परिमार्जित करके शुद्ध सात्विक रूप में सूर और तुलसी ने ही रक्खा है। इस प्रकार मूलभूत एकता तो सुन्दरता के साथ इनमें भी पायी जाती है, किन्तु कबीर आदि में पंथ-प्रचार का बहुत ही गहरा प्रमाद-प्रभाव मिलता है और वह बहुत ही स्पष्ट रूप से।

इस प्रकार काव्य अपने उन्नत शिखर से कुछ नीचे आकर अलौकिकता की अपेक्षा लौकिकता से अधिक प्रभावित होता हुआ केवल मानसिक सुख की ही प्राप्ति के साथ चलने लगा, तब काव्य के भेद दूसरे प्रकार से किये गये। इस प्रकार काव्य में मानवीयता और ऐहिकता के तत्व क्रमशः प्रधान हो गये और उसमें मानवीय मनोवृत्तियाँ ही प्रचुर और प्रबल हो चलीं। इस दृष्टि से काव्य के दो भेद यो हो गये:—

प्रथम भेद तो वह हुआ, जिसमें मानवीय भावनाओं या मनोवृत्तियों का प्राचुर्य और प्राबल्य रहता है अर्थात् जिसमें हृद्गत भावनायें और वासनायें ही प्रधान होती हैं। इसे हृदय पक्षीय काव्य कहते हैं। इस काव्य में बोध-वृत्ति की संतुष्टि के लिये कोई भी विशेष बात नहीं होती, यह विशेषतया रसात्मक अथवा रागात्मक रूप में ही प्रायः रक्खा जाता है। इस काव्य को विशेष प्रेरणा मिलती है नाटक से

और इसी से, यह उसी के समान जन-साधारण के ही लिये अधिक मनोरंजक होता है। काव्यापकर्ष के लगभग अवसान काल में ही ऐसे काव्य का प्रचार विशेष प्रधानता और प्रचुरता से हुआ है और इसी लिए इस समय काव्य की परिभाषा भी प्राचीन परिभाषा के समक्ष गिर सी गई है और केवल रसात्मक वाक्य के रूप में ही रह गई है।

तृतीय श्रेणी का काव्य वह है जिसमें मनोवृत्तियों और भावनाओं को बहुत प्रचुर और प्रबल प्रधानता तो नहीं दी जाती वरन् बुद्धि-तत्व को ही कुछ अधिक विशेषता दी जाती है अर्थात् जिसमें बौद्धिक विकास और ज्ञान-प्रकाश का प्रावल्य रहता है। हाँ, रसात्मकता की धारा भी उसमें प्रवाहित रहती है, क्योंकि जैसा कहा जा चुका है, बौद्धिक आनन्द ही वास्तव में रस है। इस प्रकार के काव्य में जग-जीवन और जीव नेश प्रभु से सम्बन्ध रखने वाले वास्तविक तथ्यों का सुन्दरता से निरूपण किया जाता है।

उत्कृष्ट श्रेणी का काव्य तो वही है जिसमें उक्त दोनों ही तत्वों का सुन्दर सुखद समन्वय किया जाता है, अर्थात् जिससे मनुष्य की बोध-वृत्ति और भावना-वृत्ति दोनों ही को यथेष्ट रूप में संतोष प्राप्त होता है और जिसमें दोनों सार्वकालीन सार्वदेशीय अनुभूति-तथ्य समाविष्ट रहते हैं। इन दोनों पक्षों का समन्वय-सौष्ठव ही काव्य-कला का उत्कृष्ट स्वरूप है। इसलिए ऐसे काव्य में कला का पक्ष भी सर्वथा सर्वत्र व्याप्त और स्पष्ट सा रहता है अर्थात् इसमें हृदय-पक्ष, बुद्धि-पक्ष और कला-पक्ष तीनों ही का यथोचित मात्रा से समन्वय होता है। यही सत् काव्य का मूल लक्षण कहा गया है। यदि इसी के साथ ही संगीत तत्व का भी समावेश उसमें हो जाये तो काव्य की चमत्कृत चारुता और भी अधिक हो जाती है, क्योंकि इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि संगीत, जो स्वर-साम्य अथवा नाद-साम्य पर समाधारित हो कर मन और

आत्मा को साम्य-स्वरूप परमात्मा के आनन्द-स्वरूप को आभासित करता है, स्वभावतः मनुष्य को अति प्रिय होता है।

समत्व या समता भी ईश्वर का एक मुख्य गुण है, संगीत उसी के आधार पर साधारण प्रकृति के क्षेत्र से मन को ऊपर उठाता हुआ नाद-ब्रह्म पर पहुँचा कर उसी में लय करा देता है। सम्भवतः इसी विचार से काव्याचार्यों ने संगीत के तत्व का भी काव्य में सन्निहित करना आवश्यक माना है, यद्यपि संगीत अपनी सत्ता और महत्ता काव्य से सर्वथा पृथक ही रखता है।

उत्कृष्ट धार्मिक काव्य में इसी लिए संगीत को भी, उसकी मनोमोहकता की विशेषता को देखकर, विशेषता दी गई है। हाँ, काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में संगीत को इतना प्राधान्य अवश्यमेव नहीं दिया गया, इसी लिए प्रायः गीत-काव्य को काव्य के भेदों में स्थान भी नहीं दिया गया। संस्कृत के अवसान-काल में भले ही गीतगोविन्द जैसी दो-एक रचनाओं को गीत काव्य कहा गया है किन्तु उनमें भी सुगेय छन्दवत्ता स्पष्ट रूप से मिलती है।

ऐन्द्रिक सुख-सम्बन्धी काव्य के प्रचलित होने पर काव्य के भेद श्रुत काव्य, दृश्यकाव्य और कहीं कहीं गीत काव्य के रूप में भी माने गये हैं। यद्यपि तीनों भेद पृथक पृथक और स्वतन्त्र भेद से ही रहे तथापि तीनों में परस्पर सम्बन्ध भी स्थापित किया गया है और एक का दूसरे में सुन्दरता के साथ समावेश कर उनका पारस्परिक संयोग भी कराया गया।

इसी प्रकार भाषा की रचना-रीति के आधार पर अथवा संगीत-तत्व के विचार से काव्य के गद्य-काव्य और पद्य-काव्य नामक दो भेद और भी किये गये। इन भेदों में भी पद्य-काव्य के अन्तर्गत कभी कभी गीत-काव्य-कला और भी परिगणित हुई, किन्तु काव्य-

शास्त्र का जहाँ तक विचार है वहाँ तक गीत-काव्य सर्वथा काव्य से पृथक ही माना जाता रहा है। साहित्य के क्षेत्र में सम्भवतः इसी लिए गीत-काव्य का प्राधान्य और प्रावल्य कदापि प्राचुर्य के साथ नहीं हुआ, चाहे संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में देखा जाये, चाहे हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में। हाँ, हिन्दी में विशेषतया धार्मिक काव्य के क्षेत्र में गीत काव्य न्यूनाधिक रूप से अवश्य ही अधिक सुविकसित और प्रचलित है।

पद्यात्मक काव्य की अपेक्षा गीत-काव्य में दो और विशेष विशेषतायें हैं। प्रथम विशेषता तो यह है कि इसकी रचना कदाचित् छंद-रचना की अपेक्षा अधिक सरल साध्य है, क्योंकि यह प्रायः लय और राग पर ही अधिक आधारित रहता है तथा लघु और दीर्घ वर्णों या मात्राओं की किसी निश्चित व्यवस्था की अपेक्षा नहीं करता। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह पद्य-वद्ध अथवा छंदोवद्ध काव्य की अपेक्षा लोक-जनता में अधिक व्यापक हो जाता है और अधिक समय तक प्रचलित भी रहता है।

इन्हीं विशेषताओं के कारण काव्य में दो और विशेषतायें भी आ जाती हैं। एक विशेषता तो यह है कि गीत-काव्य विशेषतया भावना-प्रधान हो कर अधिक रसात्मक होता है। रसों में से भी विशेषतया शृंगार, करुण, हास्य और शान्त रस ही इसमें अधिक निखरते हैं। कला-पक्ष की इस में इतनी चातुर्यपूर्ण चारुता, कला प्रचुरता और प्रबलता नहीं होती जितनी छंदोवद्ध काव्य में होती है। इसी के साथ ही इसमें अर्थ-गूढ़ता और तात्पर्य-गम्भीरता या भाव-व्यंजकता अधिक नहीं रहती। यह काव्य प्रायः वर्णनात्मक न रहकर भावनात्मक ही अधिक रहता है। इसीलिए इस काव्य में भाषा और शैली प्रायः सरल, सुवोध और स्पष्ट ही रहती है।

उन विषयों या विचारों के लिए, जो विशेषतया जनता के हृदय को स्पर्श करते हैं और उसकी रागात्मिका वृत्ति को उत्तेजित करते हैं

और जिन्हें अधिक व्यापक बनाने की आवश्यकता होती है, गीत-काव्य ही प्रायः अधिक उपयोगी सिद्ध होता है। यद्यपि यह विशेषता न्यूनाधिक रूप से छंदोवद्ध मुक्तक काव्य में भी मिलती है किन्तु इन विशेषताओं का निखार और बिखार गीत-काव्य में ही अधिक चारुता और सशक्तता से होता है।

संस्कृत-साहित्य में केवल दो ही एक गीत-काव्य मिलते हैं, उनमें से भी जयदेव कवि कृत गीत-गोविन्द ही विशेष प्रसिद्ध और प्रचलित होने से उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ की भाषा, विचार-धारा और शैली या रचना-रीति का गहरा प्रभाव हिन्दी के गीत-काव्य पर पड़ा है। कहना चाहिये कि इस ग्रन्थ ने ही हिन्दी-काव्य-कारों के लिए पथ-प्रदर्शक का सा कार्य किया है। इसी के प्रभाव से प्रभावित हो कर मैथिल-कोकिल विद्यापति ने लोक-भाषा में ऐसी सुन्दर और व्यापक रचनायें कीं, जिनका प्रभाव स्वनाम धन्य महाप्रभु चैतन्य पर बहुत अधिक पड़ा। सम्भवतः इसी प्रभाव से प्रभावित होकर व्रजभाषा का कृष्ण-सम्बन्धी सारा गीत-काव्य विकसित होकर प्रचलित हुआ और उसी के समान राम-काव्य के क्षेत्र में भी तुलसीदास जैसे भक्त-प्रवर कवियों ने रुचिर और रोचक रचनायें कीं।

पूर्व पीठिका

जिस समय-विशेष के विषय में आगे विचार किया जायगा, उससे पूर्व देश में भाषा और साहित्य से सम्बन्ध रखने वाले बड़े गहरे परिवर्तन हो चुके थे और बहुत कुछ हो भी रहे थे। हिन्दी-साहित्य का स्वरूप अभी पूर्णतया निर्धारित न हुआ था। जय-काव्य-काल में जिस प्राचीन हिन्दी का प्रयोग काव्य-साहित्य में किया गया था, वह अब समाज से बहुत-कुछ दूर सी हो गई थी। नवागत मुसलिम शासकों की भाषा और उनके साहित्य के साथ हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य

का सम्पर्क बराबर ही बढ़ रहा था। हिन्दी-काव्य की प्रगति भी इसीलिए परिवर्तन कर चली थी, साथ ही यह युग धार्मिक आन्दोलन का समय था, क्योंकि धन-धरा के चले जाने पर समाज के प्राण-स्वरूप धर्म को रक्षित रखना एक अनिवार्य कार्य हो गया। हिन्दू जाति के लिए यह संकट का समय था। मुसलमान प्रलोभन, शस्त्र-शक्ति और छल-छद्म आदि के द्वारा हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का अनवरत रूप से अथक प्रयत्न कर रहे थे, जिससे साधारण हिन्दू-जनता के धर्म-परित्याग कर देने की आशंका बढ़ रही थी, और हिन्दू-धर्म की नींव हिलने सी लगी थी।

कुछ ही समय पूर्व कबीर और जायसी जैसे अल्प शिक्षित अथवा अशिक्षित फकीर बड़ी चालाकी से हिन्दू-समाज के निम्न स्तर को बहकाकर उस पर अपना धार्मिक प्रभुत्व रमा-जमा रहे थे। जायसी ने भारतीय प्रेम-कथाओं को सूफी सिद्धान्तों के रंगों से रंजित कर और हिन्दू-धर्म के नियमों को दूषित रंगों से कुत्सित रूपों में रंजित कर हिंदुओं के देवी-देवताओं का उपहास सा करते हुए मुसलमान् संस्कृति और सभ्यता के प्रचार-प्रसार करने का परोक्ष रूप से प्रबल प्रयत्न किया था। यदि उसके पद्मावत को विचार-पूर्वक देखा जाय तो इस कथन की तथ्यता बहुत-कुछ स्पष्ट हो सकती है।

कबीर ने एक दूसरे ही मार्ग का अनुसरण किया था। उसने अपने एक नये पंथ के चलाने का प्रयत्न किया और उसमें वह बहुत-कुछ सफल भी हुआ। कबीर हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों के ही द्वारा एक प्रकार से बहिस्कृत सा हुआ था। वह यद्यपि अशिक्षित था किन्तु था प्रतिभावान और सत्संगानुरागी। इसलिए विविध मतों और सम्प्रदायों से उसने बिखरी हुई कुछ बातें ले लीं और अपने साँचे में उन्हें ढालकर अपना एक अलग पंथ खड़ा कर दिया।

चूँकि उसमें वास्तविक ज्ञान का अभाव ही सा था, इसलिये वह अपने पन्थ को सुन्दर, सुव्यवस्थित और आकर्षक रूप से समाज के सुसंस्कृत शास्त्रीय धर्म के स्तर पर न रख सका। अपनी ओर जनता को आकर्षित करने के लिये उसने हिन्दू और मुसलमान दोनों ही के धर्मों का खंडन सा किया तो किन्तु वह उपयुक्त रूप से न हो सका। मुसलमान-धर्म की अपेक्षा हिन्दू-धर्म की व्यावहारिक और धार्मिक बातों की कुत्सित और कटु आलोचना कर उनको उसने विर्गिहित सा किया और अपनी ही विचार-धारा की विशेष श्लाघा की।

अशिक्षित लोगों को चकित करने के लिए उसने उलटवासियों की भी ऐसी रचनायें की, जिनमें उल्टी सीधी बातों को संगुम्फित कर अपने महत्त्व के स्थापित करने का ही पूरा प्रयत्न किया गया है। किन्तु उसका कोई भी प्रभाव उच्च श्रेणी के हिन्दू-समाज पर कदापि न पड़ सका क्योंकि इस श्रेणी के व्यक्तियों के लिये उसके पंथ में किसी भी प्रकार का बुद्धि-सम्बन्धी आकर्षण न था। सुपठित और सुयोग्य समाज के लिए तो वह एक प्रकार का अपठित व्यक्तिकृत विनोद मात्र ही सा रहा, किन्तु निम्नस्तर के अपठित और अयोग्य व्यक्तियों पर अवश्यमेव उसका कुछ थोड़ा सा प्रभाव पड़ा।

इन्हीं के साथ नाथ-सम्प्रदाय के भी कुछ साधुओं ने अपने साम्प्रदायिक विचारों के लिये हिन्दी के एक विशेष निम्न स्तर में प्रचलित अव्यवस्थित रूप का प्रयोग किया है, किन्तु इस सम्प्रदाय के द्वारा कोई भी विशेष उत्कृष्ट काव्य-साहित्य नहीं रचा गया। इसलिये साहित्य के क्षेत्र में इस सम्प्रदाय को कोई विशेष स्थान नहीं मिल सका।

मुसलमानों ने प्रथम कुछ समय तक तो अरबी और फारसी भाषा से अपना काम चलाया, किन्तु इस देश में रहते हुये उन्होंने अपने को हिन्दू-समाज, उसकी सभ्यता, भाषा, और उसके साहित्य से सर्वथा

अपने को पृथक रखना राजनीतिक और व्यावहारिक दृष्टि-कोण से ठीक न समझा, उनका ऐसा समझना समीचीन भी था, इसलिये हिन्दू-जनता के साथ व्यवहारिक सम्बन्ध रखने के लिये उन्हें हिन्दी भाषा को ग्रहण करना पड़ा। अपने लिये उन्होंने हिन्दी के उस रूप को अधिक उपयुक्त समझा, जिसका प्रयोग संयुक्त प्रान्त के पश्चिमीय भाग के मेरठ और शाहजहाँपुर जैसे प्रान्तों में होता था और जिसे खड़ी बोली की संज्ञा दी गई है। ऐसी दशा में हिन्दू जनता के लिये यह अनिवार्य हुआ कि वह अपनी संस्कृति, सभ्यता, तथा अपने साहित्य और धर्म की रक्षा के लिए अपनी भाषा के उन रूपों को उठायें, जिनका प्रयोग काव्य और साहित्य के लिये सर्वथा समीचीन हो। इसलिये हिन्दी के दो विशेष रूप उठाये गये। चूँकि इन परिस्थितियों में धार्मिक आंदोलन आवश्यक था और उस रूप में आवश्यक था, जिस रूप में वह जन-साधारण के समाज में सब प्रकार पैठ और बैठ सके, न केवल पुरुष-वर्ग ही उसे हृदयंगम कर सके, वरन् स्त्री-समाज भी उसे अधिक चाव-भाव और दृढ़ता से ग्रहण कर सके। इसलिये इस धार्मिक आन्दोलन को भावना-प्रधान बना कर भक्ति के ऊपर आधारित रखना अनिवार्य हुआ और भगवान के सगुण, और साकार रूप की उपासना के ही प्रचुरता और प्रबलता से प्रचलित करने का प्रयत्न किया गया। भगवान के दो नर-रूप अर्थात् श्रीराम और श्रीकृष्ण ही उपास्य और सेव्य कहे गये, इन दोनों रूपों में ईश्वर की भावना सर्वथा निहित रही और इन अवतारों की लीलाओं के साथ इनकी भक्ति को समाज में सर्वत्र दृढीभूत करने का प्रयत्न किया गया। इसलिये इन दोनों अवतारों और उनकी ललित लीलाओं से सम्बन्ध रखने वाले स्थलों की ही भाषा को उठाया गया।

कृष्ण-काव्य के लिए तो कृष्ण की लीला-भूमि अर्थात् व्रजभूमि में प्रचलित व्रजभाषा का उपयोग किया गया और राम-काव्य में राम

के लीला-प्रान्त अर्थात् अवध में प्रचलित भाषा परिष्कृत की जाकर रक्खी गई। कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ स्वामी बल्लभाचार्य की प्रेरणा के प्रसाद से ब्रजप्रान्त में हुआ। उनके सब से प्रमुख प्रिय शिष्य कवि महात्मा सूरदास जी हुए, आगे इन्हीं सूरदास के काव्य की आलोचना संक्षेप में की जायगी। इससे पूर्व यह दिखाना भी आवश्यक जान पड़ता है कि हिन्दी के कृष्ण-काव्य का वास्तविक उद्‌गम कहाँ से और कैसे हुआ है।

कृष्ण-काव्य का उद्‌गम

यह तो ज्ञात ही है कि हिन्दी-साहित्य से पूर्व यहाँ संस्कृत के साहित्य की बड़ी सुन्दर संपन्नता के साथ समुन्नति हो चुकी थी। हिन्दी भाषा और हिन्दी भाषा के काव्य के लिए संस्कृत भाषा और संस्कृत का काव्य अक्षय निधि के रूप में प्राप्त था। हिन्दी साहित्य का बहुत बड़ा भाग इसी लिए संस्कृत साहित्य पर ही समाधारित है। हिन्दी-साहित्य का कुछ अंश तो उसका सर्वथा अनुवाद ही है और कुछ भावानुवाद तथा कुछ छायानुवाद के रूप में है।

हिन्दी के काव्य में इस प्रकार मौलिकता का बहुत कम ही अंश है। हिन्दी-काव्य को केवल विचार-धारा ही संस्कृत-काव्य से बहुत अधिक मात्रा में नहीं मिली है, वरन् उसको रचना-शैली, कमनीय काव्य-कौशल और शास्त्रीय रीति-नीति भी अधिकांश रूप में मिली है। यह अवश्यमेव सत्य है कि रचना-रीति हिन्दी के कवियों ने अपनी पृथक भी रक्खी है, अर्थात् संस्कृत-काव्य के समान हिन्दी-काव्य में वर्णिक व्रतों को प्रधानता न देकर हिन्दी के कवियों ने मात्रिक छन्दों और गीतों को ही प्रधानता दी है। उसका विशेष कारण तो यही है कि हिन्दी-काव्यकारों को देश और समाज की परिवर्तित परिस्थिति के कारण अपनी धार्मिक विचार-धारा से संयुक्त रचनाओं को देश के

कोने कोने तथा समाज के हृदय-हृदय में पहुँचना ही उस समय अभीष्ठ था। इसीलिये हिन्दी में प्राचीन काव्यों की शुद्ध परिपाटी का अनुसरण करते हुए काव्य कला को प्रधानता देकर संस्कृत के से महाकाव्य और खण्डकाव्य नहीं लिखे जा सके। केवल मुक्तक रूप में ही हिन्दी-काव्य-रचना गेय गीतों और ललित छन्दों में हुई है और शास्त्रीय काव्य-परिपाटी को विशेष प्रावल्य नहीं दिया गया।

हिन्दी का कृष्ण-काव्य भी इसी लिये अपनी विचार-धारा के लिए विशेषतया संस्कृत-काव्य पर ही समाधारित रहा। संस्कृत में कृष्ण-चरित्र को चित्रित करने वाले तीन ग्रन्थ बहुत प्रधान हैं, सबसे प्रमुख और प्रथम उनमें से श्रीमद्भागवत है, जिसमें कृष्ण के जन्म से लेकर उनके युवाकाल तक का विशद और सरस वर्णन बड़ी सरलता, मार्मिकता और रुचिर रोचकता के साथ हुआ है। इसी में भक्ति और प्रेम रस का सुधा-स्रोत सर्वत्र प्रवाहित है। दूसरा ग्रन्थ 'हरिवंश' पुराण है, जिसमें भगवान श्रीकृष्ण और उनके वंश-विस्तार का वर्णन है, इस ग्रन्थ से हिन्दी-काव्यकारों ने बहुत अधिक सहायता नहीं ली। तीसरा ग्रन्थ है महाभारत, जिसमें श्री कृष्ण के प्रौढ़ काल और उनके योगेश्वर तथा राज-नीति-कुशल नेता-रूप का चारु चित्रण है। हिन्दी के कृष्ण-काव्य-कारों ने श्री कृष्ण के इस रूप को छोड़ ही सा दिया है। इन ग्रन्थों से अतिरिक्त 'गीत-गोविन्द' जैसे कुछ दूसरे काव्यों का भी प्रभाव हिन्दी के कृष्ण काव्य पर पड़ा है।

जैसा अभी कहा गया है कि भगवत ही हिन्दी के कृष्ण-काव्य का मूल आधार है, यह भी कहा जाता है कि श्री वल्लभाचार्य के अनु-यायी सूरदास, नन्ददास और परमानन्द दास जैसे कविवरों ने भागवत का अनुवाद किया था। किन्तु इनके कोई भी अनुवाद प्रामाणिक रूप से अब तक प्राप्त नहीं हुए, यद्यपि उक्त कवियों की ऐसी रुचिर रचनायें मिलती हैं जिनसे यह अनुमान बहुत-कुछ सुदृढ़ रूप में हो सकता है कि

इन्होंने भागवत के अनुवाद अवश्यमेव किये रहे होंगे । सूरदास की रचना का बहुत बड़ा भाग ऐसा है जो भागवत पर सर्वथा समाधारित सा जान पड़ता है । यद्यपि बहुत-कुछ मौलिक परिवर्तन भी उसमें प्राप्त होता है । नन्ददास ने अपनी 'रास पंचाध्यायी' भी भागवत के ही आधार पर रची है । हाँ, कहीं-कहीं उसमें कुछ साधारण सा कथान्तर किया गया है । भगवद्भक्ति का सिद्धान्त तो बहुत समय पहले से ही भारत में प्रचलित रहा है, विशेषतया दक्षिण भारत के प्रान्त में, और वहीं से हरि-भक्ति-सिद्धान्त उत्तरीय भारत में आकर प्रचुरता और प्रबलता से प्रचलित हुआ है । श्रीमद्भागवत और गीता में श्रीकृष्ण के श्रीमुखागत कतिपय श्लोक ऐसे मिलते हैं जो कृष्ण की ऐकान्तिक भक्ति की स्पष्ट सूचना देते हैं, कुछ स्थलों पर तो भगवान श्रीकृष्ण का स्पष्ट आदेश ही है कि एक उनकी भक्ति ही मनुष्य के लिये अवश्यमेव करणीय है ।

सम्भवतः इनका प्रभाव कृष्ण-भक्ति के प्रचार और प्रसार पर बहुत गहरा पड़ा है । यह अवश्यमेव ठीक है कि भक्ति के क्षेत्र में बाल कृष्ण और युवा कृष्ण ही प्रायः विशेष रूप से सर्वथैव उपास्य माने गये हैं, और कृष्ण की प्रायः चार अवस्थाओं का ही चारु चित्रिण अधिक किया गया है, अर्थात् उनकी बाल्यावस्था, किशोरावस्था, पौगण्डावस्था और युवावस्था का । उनकी कुमार अवस्था तो बाल्यावस्था के अन्तरगत हो जाती है । सम्भवतः इसका कारण यह प्रतीत होता है कि भगवान की जरावस्था अथवा वृद्धावस्था होती ही नहीं अथवा मानी ही नहीं जाती । भगवान ही क्या देवताओं की भी यह अवस्था नहीं होती । वे सब अजर, अमर और निर्जर रूप में ही रहते हैं । ऐसी दशा में उनकी वृद्धावस्था का विचार या वर्णन ही कैसे हो ।

भक्ति के दो मुख्य प्रकार हैं, एक तो है वह, जिसे नवधा भक्ति

कहते हैं और दूसरा है भक्ति-भाव। (१) नवधा भक्ति में श्रवण, कीर्तन, अर्चन, वंदन, स्मरण दैन्य, सख्य, पाद-सेवन और आत्म-निवेदन अथवा आत्म-समर्पण है।

"श्रवणम् कीर्तनं विष्णोरर्चनम् पाद-सेवनम्
स्मरणं, वंदनं, दास्यं, सख्यमात्मनिवेदनम्।"

इसमें कुछ रूप तो उपासना-सम्बन्धी रूप हैं और कुछ भाव-सम्बन्धी। भक्ति के मुख्यतया दो भाव होते हैं। यह मानकर कि वह अनन्त ब्रह्म या ईश्वर ज्ञान-गम्य नहीं है, क्योंकि यदि सीमित आत्मा को उस असीम का ज्ञान हो जाय तो वह अनन्त ब्रह्म भी सीमित ही हो जायगा, किन्तु वह अपरिमेय है, यह निर्विवाद है। अतः सीमित को आसीम का ज्ञान हो नहीं सकता। ऐसी दशा में भगवान भाव-गम्य अथवा भावना-गम्य ही हो सकता है, उससे आत्मा अपना सम्बन्ध जिस किसी भी रूप में वह चाहे, स्थापित कर सकता है, इस विचार का आधार सम्भवतः गीता के इस वाक्य में है:—"ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तान्स्तथैवभजाम्यहम्।" इस लिये भगवान के साथ अतंरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं।

अन्तरंग सम्बन्ध तो आधारित होता है (१) जन्य-जनक सम्बन्ध या वात्सल्य भाव पर, जिसके आधार पर ईश्वर को समस्त संसार का जनक या परम पिता और आत्मा को उसका प्रिय पुत्र माना जाय अथवा इसके विपरीत भगवान को अपना पुत्र सा समझा जाय, किन्तु यह भाव, जिससे भगवान को पुत्रवत मानते हैं बहुत ही कठिन भाव है और ऐसी महान् आत्माओं के लिए है जैसी महान आत्मायें नन्द-यशोदा तथा दशरथ-कौशल्या आदि में थी। परमपिता के रूप या भाव से तो भगवान प्रायः सर्वाधिक उपास्य और सेव्य कहा ही गया है। सेव्य-सेवक-भाव, यदि

विचार किया जावे तो सभी भावों में किसी न किसी रूप में न्यूनाधिक मात्रा के साथ निहित ही रहता है। चाहे वात्सल्य हो, चाहे सखा-भाव हो, चाहे माधुर्य या दाम्पत्य भाव हो। सेवा-भाव बड़ा गहन है—"सेवा धर्मो परम गहनो योगिनाम प्यगम्य :"—तुलसीदास ने इसी विचार से इसी को पूरा महत्व दिया है और लिखा है :—"सेवक-सेब्य-भाव बिन, भव न तरिय उरगारि।" यह भाव तो एक प्रकार से सर्वभाव-व्यापी सा है किन्तु अन्य सब भाव इसमें पूर्णतया समाविष्ट नहीं हो सकते। यही भाव अधिक ब्यापक भी हुआ है। दूसरा वन्धु-भाव है, इस भाव से भगवान को बन्धु माना जाता है। हां, विशेषता यह है कि वह परम शक्तिशाली और सर्वथा संपन्न है, जीवात्मा उसके समक्ष बहुत ही हीन और दीन है, क्योंकि उसमें अल्पशक्ति और अल्पैश्वर्य ही है, इसलिए वह भगवान को दीन-बन्धु मानता है। तीसरा भाव दाम्पत्य, शृंगार या माधुर्यभाव है, इस भाव से भक्तात्मा अपने को भगवान की स्त्री और उसे अपना पति मानता है। इस भाव का विलोम रूप नहीं मिलता। हां, उर्दू-शायरी में ईश्वर को माशूक और भक्त को उसका आशिक मानते हैं, किन्तु माशूक में स्त्री-भाव नहीं। चौथा भाव है गुरु-भाव, जिससे भगवान को सब प्रकार पूर्ण, विद्या-वलवयोवृद्ध, पूर्ण पुराण पुरुष, जगन्नियंता, लोक-नायक मानते हैं इसमें और समस्त श्रद्धा के भाव की विशेषता रहती है। ज्ञानानंददायक गुरु के रूप में मानते हैं। इस भाव में शुद्ध सत्य और ज्ञानानंद रूप के भाव का प्राधान्य रहता है तथा गुरु भाव के अन्तर्गत एक भाव और भी है, जिसके आधार पर ईश्वर को महानू ज्ञानावधि मानते हुए उसे गुरु (शिक्षक) और आत्मा को शिष्य अथवा भगवान को महान् तथा वृद्ध या बड़ा मान कर आत्मा को लघु तथा अल्पवयस्क के रूप में मानते हैं। इसी आधार पर कहा गया है :—"गुरु र्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः"।

पाँचवाँ भाव सखा-भाव है, जिसके आधार पर भावुक भक्त लोग भगवान को अपना मित्र मानते हैं और उसके साथ सर्वथा व्यवहार-साम्य रखते हैं। उसकी वह यथावश्यकता आलोचना भी कर सकते हैं, उसे सम्मति और शिक्षा भी दे सकते हैं और उसके साथ हासोपहास भी कर सकते हैं। छठा भाव सखी-भाव कहा जाता है, इस भाव से भक्तात्मा अपने को भगवत्प्रिया की प्रिय सखी या सहेली मानकर भगवान के साथ स्नेह-साम्य-सम्बन्ध सा स्थापित करता है और तद्वत् सारे व्यापार या व्यवहार करता है। कहना चाहिये कि यह सखा-भाव का दूसरा ही रूप है, जिसमें सेवा, श्रद्धा और प्रीति का भाव कुछ अधिक रहता है। सप्तम भाव सेव्य-सेवक अथवा दास्य-भाव है। इस भाव से आत्मा परमात्मा को अपना स्वामी, नाथ या प्रभु मानता है, क्योंकि वह जगत्पति, लोकलोकेश्वर और जगन्नाथ है। यों मानकर भक्त अपने को उसका अनुचर, किंकर अथवा अनुग या दास समझता है। भगवान की आज्ञा का परिपालन करना उसका कर्तव्य होता है वह भगवान की सेवा-सुश्रूषा बड़ी तन्मयता और सत्यता के साथ करता है और उसका चरण-सेवक बनकर सदैव उसकी मूर्ति-मुद्रा को देखते हुये उसे प्रसन्न करने या रखने का यथाशक्ति पूरा प्रबल प्रयत्न करता है। इस भाव में श्रद्धा और भक्ति के साथ ही सेवा-सुश्रूषा और प्रभु से भय तथा आत्मसमर्पण और आत्मनिवेदन के भी भाव सन्निहित रहते हैं। आठवाँ भाव शत्रु-भाव है, इस भाव से भगवान के प्रति शत्रुता रखते हुये प्रत्येक समय उससे सभीत और सशंकित होकर उसी की ही चिन्ता निरंतर की जाती है और ठीक उसकी रीति से विपरीत व्यवहाराचार किया जाता है और उसके हाथों से निधनता को प्राप्त हो अल्प प्रयास से ही संसार से उद्धार हुआ जाता है। इस भाव में प्रभु-भय और तच्चिन्ता अथवा तद् ध्यान ही स्वभावतः प्रधान रहता है। ईश्वर-भय ही ज्ञानारम्भ-हेतु है। साथ ही उससे

विरुद्ध रह कर कार्य करने की भी भावना इसमें रहती है। ऊपर से तो उसकी निन्दा और विगर्हणा भी की जाता है, किंतु भीतर उसका भय रहता है। विरोध के कारण ईश्वर स्पष्ट होकर अपने हाथों से उसे मार उसे मुक्त करता है। इन भावों से अतिरिक्त इनके मिश्रित रूप भी देखे जाते हैं, उक्त भावों में से कतिपय भावों का एक मिश्रित उदाहरण इस छन्द से मिलता है :—

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या-द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं ममदेव - देव।"

इसी प्रकार मिश्रत भाव की भक्ति का एक अन्य उदाहरण बाबा प्रयाग दास में भी मिलता है। वे अपने को साला और भगवान राम को स्वानुजा पति या जीजा मानते थे और अपने को इसलिये रामजी का साला समझ कर रामजी को जीजा कहा करते थे। उन्होंने लिखा है :—

"नीम तरे इक डारि खटोली
धरि पानी का करवा।
प्रागदास अलमस्ता सोवै
राम लला का सरवा।"

गोस्वामी तुलसीदास के मानस में उक्त सभी भावों की भक्ति के रूप दिखलाये गये हैं, और बड़ी ही चारुता तथा चतुरता के साथ। उक्त सभी भावों को तीन मुख्य विभागों में अधिक, सम और हीन करके भी रख सकते हैं। इसी प्रकार अंतरंग और बहिरंग सम्बन्धों के आधार पर केवल दो ही विभागों में उन्हें बाँट सकते हैं। यह स्मरणीय है कि इन सभी भावों की भक्तियों में आत्म-सत्ता परमात्मा से

सर्वथा पृथक ही रहती है, वह उसमें लय या विलीन होकर तदाकार और तादात्म्य रूप को प्राप्त नहीं हो जाती है। भगवान में परम पवित्रा का भाव, शक्ति और शील के भावों के साथ रखते हुए अपने को अल्पज्ञ और पतित मानकर उसे पतित-पावन कहते हुए उसकी कृपा और करुणा की इच्छा से याचना की जाती है। इसे दैन्यभाव कहा जाता है। इसी प्रकार और भी भावों के कई साधारण स्वरूप हैं। औदासीन्य-भाव अथवा नास्तिक भाव से भी ध्यान किया जाता है। यद्यपि ज्ञान के क्षेत्र में ही अहम् का वह भाव आता है जिसके द्वारा आत्मा अपने को ब्रह्म या ईश्वर मानता है, किन्तु इस भाव को भी कहीं-कहीं बड़ी चारुता से कवियों ने चातुर्य-चमत्कृत रूप में रक्खा है। भक्त का जो मुख्य लक्ष्य रहता है, उसके मुख्यतया चार भेद हैं, एक तो है अपने अस्तित्व को उसी के अस्तित्व में मिला कर तन्मयकर देना और दूसरा है उसके साथ केवल सम्बन्ध स्थापित कर बराबर उससे पृथक् रखते हुए भी उसके निकट या समीप रहना, अर्थात् उद्देश्य दो प्रकार के हैं एक तो *स्वास्तित्वाभाव* और *स्वतंत्रास्तित्वभाव*-ज्ञान-योग मार्ग में तो स्वास्तित्वाभाव का और भक्ति-प्रेम-मार्ग में पृथगस्तित्वभाव का प्राधान्य देखा जाता है।

भक्ति के क्षेत्र में स्वास्तित्वा-भाव-अर्थात् ईश्वर में अपने अस्तित्व को मिलाकर अपने को उसी के रूप में लय करते हुए, अपने अस्तित्व का अभाव कर देने की विशेष प्रधानता और महत्ता नहीं, वरन् इसके विपरीत अपने अस्तित्व को पृथक् रखते हुये अपने को ईश्वर के निकट पहुँचा कर उसके साथ किसी विशेष भाव को स्थापित कर उसका सामीप्य-सुख लेना अर्थात् स्वास्तित्व को स्वतन्त्र रख केवल भव-मुक्ति भाव से उसके सानुरक्ति सान्निध्य प्राप्त करने का लक्ष्य ही विशेष महत्वपूर्ण है। चाहे राम-भक्ति का क्षेत्र हो अथवा कृष्ण भक्ति का, उक्त सभी विचार और भाव प्रायः दोनों में न्यूनाधिक रूप से मिलते

हैं। यह ठीक है कि कृष्ण भक्ति में वात्सल्य, साख्य और माधुर्य भावों का अधिक प्राचुर्य और प्रावल्य है और राम-भक्ति में दैन्य और दास्य भाव के साथ आत्मसमर्पण की भावना का विशेष प्राधान्य है। वेदान्त-वाद की प्रतिक्रिया के रूप में, कहा जाता है भक्तिवाद उठाया गया था, किन्तु इस सम्बन्ध में कोई निश्चित और सर्वमान्य या सर्व-सम्मतिमयी धारणा नहीं। यहाँ, इसीलिये उसके विवेचन और गवेषण की कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं है।

यह तो निश्चित और प्रमाणित सा है कि हिन्दी-कृष्ण के काव्य का उद्भव भक्ति के ही आधार पर हुआ है और इसका श्रेय विशेषतया स्वामी वल्लभाचार्य जी को है। मथुरा को अपना साम्प्रदायिक केन्द्र बनाकर स्वामी जी ने सूरदास जैसे शिष्य-प्रवरों को कृष्ण-काव्य के लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। सूरदास तो जन्मांध थे, जैसा एक मत है, स्वामी जी के शिष्य होकर वे उनकी सेवा में रहते हुए कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-लीला सम्बन्धी-भव्य भाव-भरे पद रच रच कर विविध राग-रागनियों से गाया करते थे। कृष्ण-लीला-सम्बन्धी ज्ञान उनका श्रुत ज्ञान ही था। यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यही विचार ठीक है, क्योंकि ऐसा भी प्रसिद्ध है कि वे जन्मान्ध न थे, वरन् उन्होंने अपनी आँखें फोड़ ली थीं ! अन्धे होकर वे एक कुयें में जा गिरे थे। जिसमें से भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें हाथ पकड़ कर बाहर निकाला था और फिर उन्हें छोड़ कर आप चले गये थे, तब बड़ी सुन्दर उक्ति के साथ श्रीकृष्ण के प्रति सूरदास जी ने कहा था—"बाँह छुड़ाये जात है, जानि आँधरो मोंहिं, जब हिरदै तै जाइहौ, मर्द बदौं गो तोंहिं।" कहते हैं कि तभी से उनके ज्ञान-चक्षु खुल गये और कृष्ण-भक्ति का उनके हृदय में प्रकाश हो गया था।

यदि इसे यों ही मान लें तो भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि अन्धे होने से पूर्व उनका स्वाध्याय कितना विशद् हो चुका था।

हम तो यही मानते हैं कि कृष्ण-लीला और कृष्ण-भक्ति का मार्ग उन्हें स्वामी वल्लभाचार्य की ही सेवा में रहते हुये केवल सुनकर ही ज्ञात हुआ था। सम्भवतः वहाँ भागवत का पठन-पाठन, स्वामी जी के प्रवचन और सन्तों तथा महात्माओं के कृष्णोपासना सम्बन्धी वार्तालाप या उपदेशादि निरन्तर ही होते रहते थे। अन्धे होने से सूर कहीं अन्यत्र न जाकर बस वहीं यह सब सुनते रहते थे और फिर पदों के रूप में उन्हीं विचारों को संगुम्फित करते हुए गाया करते थे। उनके वे पद संग्रहीत कर लिये गये। चूँकि नित्य प्रति उनकी पद-रचना होती रहती थी इसलिए पदों की संख्या बहुत हो गयी। साथ ही प्रत्येक लीला और प्रसंग के पदों में विचारों की कुछ पुनरुक्ति भी हो गई। सूरदास को छोड़ कर श्री वल्लभाचार्य और उनके उत्तराधिकारी स्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों में, जिनसे अष्टछाप-मण्डल बना था और सब कवि सुपठित थे। कुछ तो उनमें से बड़े ही विद्वान थे, जैसे नन्ददास।

यद्यपि हिन्दी के इतिहासकारों ने कृष्ण-काव्य पर संस्कृत के गीत-गोविन्द का भी गहरा प्रभाव बतलाया है और यह माना है कि उसी के प्रभाव से हिन्दी में गीत-काव्य विशेषतया विकसित हुआ किन्तु ऐसा मानना कुछ बहुत युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि गीत-गोविन्द और अष्टछाप-कृत कृष्ण-काव्य में बहुत बड़ा अन्तर है। हाँ, यह अवश्य ठीक है कि दोनों में संगीत की सहायता ली गई है, हिन्दी-कृष्ण-काव्य और विशेषतया सूरसागर में अनेक प्रकार के रागों और विविध रागिनियों में कृष्ण-लीला का गान हुआ है। गीत-गोविन्द में उतने राग और उतनी रागिनियाँ नहीं है। साथ ही विचार-धारा और प्रयोजन में भी बहुत अन्तर है।

सूरदास से पहिले हिन्दी में विशेष कृष्ण-काव्य न था, यदि रहा भी हो तो उसकी कोई विशेषता नहीं, और न उसके सम्बन्ध में कहीं कोई विशेष उल्लेख ही है। इसलिये सूरदास को ही हिन्दी के कृष्ण-

काव्य का सर्वप्रथम श्रेष्ठ कवि कह सकते हैं, उनके ललित पदों का यह प्रभाव अवश्यमेव पड़ा कि उनके पदों के प्रसार-प्रभाव से ही कृष्णोपासना बहुत विस्तृत और व्यापक हो गयी और कृष्ण-काव्य समस्त उत्तर भारत में लोक-व्यापी सा हो गया। पुरुष-समाज से आगे बढ़कर यह स्त्री-समाज में भी फैलकर चिरस्थायी हो रम-जम गया। पश्चिम में मारवाड़ और गुजरात तक, दक्षिण में महाराष्ट्र प्रान्त तक और पूर्व में बिहार और मिथिला तक यह फैलकर सुप्रचलित हो गया। इस समस्त उत्तर-भारत में केवल एक अवध प्रान्त ही शेष बचा, जिसमें यह काव्य सर्वथा प्रविष्ट हो न सका। इस प्रान्त में प्राधान्य रहा सदा राम-काव्य और तत्सम्बन्धी तुलसीदास कृत रामचरित-मानस का ही। इसी के साथ काशी का प्रान्त भी इसके प्रभाव से प्रायः शून्य सा ही रहा। इस प्रान्त पर न तो कृष्ण-काव्य का ही गहरा प्रभाव पड़ा और न राम-काव्य का ही क्योंकि, काशी विद्या का केन्द्र था, अतएव यहाँ शास्त्रीय विचार-धारा ही प्रवल रही, यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी काशी में कुछ समय तक रहे भी।

अवध प्रान्त में राम-काव्य का विकसित होना इसलिये स्वाभाविक ही सा हुआ चूँकि यह प्रान्त भगवान राम का ही प्रान्त है, इसी प्रकार काशी का प्रान्त भगवान शंकर का प्रान्त रहा है इससे इसमें शैव-मत की ही प्रधानता रही है, तत्पश्चात् कुछ शाक्त मत रहा। काशी धाम शिव का ही स्थान होकर लोक से परे सा माना जाता है, "तीन लोक से काशी न्यारी"—कहते हैं कि काशी श्री विश्वनाथ महादेव जी के त्रिशूल पर स्थित है और सब लोकों से प्रथक है। इसी प्रकार मथुरा को भी तीनों लोकों से परे कहा गया है, "तीन लोक से मथुरा न्यारी"। प्राचीन काल से बराबर ही यह काशी-प्रान्त ब्रह्म-विद्या का केन्द्र और शास्त्रीय अध्यात्मज्ञान का मुख्य स्थान रहा है, इसीलिये यहाँ अध्यात्मवाद अथवा दर्शन-शास्त्रीय ज्ञान की सदा सर्वथा प्रधा-

नता रही है और इसी से भक्तिवाद को यहाँ कोई विशेष स्थान नहीं मिल सका। कला-काल में आकर अवश्यमेव-कृष्ण काव्य का मुक्तक स्वरूप इन प्रान्तों में भी निखरने और बिखरने लगा, किन्तु उस काव्य को वास्तव में कृष्ण-काव्य तो नहीं कहा जा सकता वरन् उसे कृष्ण काव्य का प्रतिबिम्ब या आभास ही कहा जा सकता है। कृष्ण के आधार पर कला-कौशल के प्राधान्य के साथ यह कला-पूर्ण मुक्तक काव्य इस काल में कवियों का कंठहार बना है।

कृष्ण काव्य की कमनीय विशेषतायें

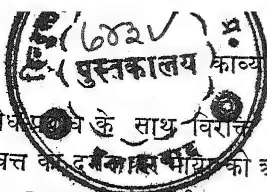
कृष्ण-काव्य की समाकर्षक विशेषतायें ऐसी हैं कि उन्होंने राम-काव्य को भी प्रभावित किया है। इसी काव्य में अवतारवाद का पूर्ण रम्य विकास मिलता है। भगवान के सौन्दर्य, शक्ति और शील गुणों के साथ ही साथ अन्य सभी समाकर्षक प्रमुख गुण रुचिर रूप से इसी में प्रकट किये गये हैं। कृष्ण के चारु चित्रण में इस बात का सब प्रकार बराबर ध्यान रक्खा गया है कि उनके विचित्र चित्र और पवित्र चरित्र सर्वथा वैष्णव ही रहें। भगवान के सभी मुख्य गुण इसमें पूर्ण रूप से प्रगट किये गये हैं। भगवान विष्णु शृंगार रस के अधिष्ठाता और देवता माने गये हैं। इसलिये शृंगार रस का ही सदैव इस काव्य में आद्योपान्त सब प्रकार पूरा प्राधान्य और प्राबल्य रहा है। भगवान के नर और नारायण नामक दोनों रूप इसमें चारुता से चित्रित किये गये हैं। नारायण रूप से वे शान्ति रस के देवता माने गये हैं। इसलिये सूरदास जैसे कविवरों ने वैराग्य-सम्बन्धी रम्य रचनायें भी की हैं। विष्णु संसार-रक्षक, विश्व-नायक और लोक-पालक हैं। इसलिये भगवान कृष्ण के चारु चरित्र में भी लोक-मांगल्य और लोक-हित का पूरा समावेश है। इस काव्य में भगवान कृष्ण की लोक-रंजकता की विशेष व्यंजकता रक्खी गई है।

शृंगार के अधिष्ठाता होकर विष्णु अनन्त सौन्दर्य शाली और प्रेम-पूर्ति की मधुर स्फूर्तिमयी मूर्ति हैं। इसलिये कृष्ण-चरित्र और कृष्ण-काव्य में शृंगार और प्रेम का ही विशेषतया विशद चित्रण प्रधानतया पाया जाता है। इन दोनों के साथ ही मानव-हृदय से सरस सम्बन्ध रखने वाली भगवान की विश्व-मोहनी शक्ति और योग माया-शक्ति का भी मार्मिक वर्णन बड़ी विदग्धता और दक्षता से इस काव्य में है।

भगवान कृष्ण की मोहनी-शक्ति उनके सौन्दर्य और उनके मुरली-वादन के द्वारा प्रस्फुरित होकर अपना पूरा कार्य करती है। कृष्ण की मोहनी जड़ और चेतन, चर और अचर सभी को मंत्र-मुग्ध कर देती है। राम-काव्य में यह बात इतनी विशेषता के साथ नहीं, यद्यपि राम का सौन्दर्य भी बहुत ही विशद और विमोहक रूप में दिखलाया गया है और उसकी सौन्दर्य-विमोहकता पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है, किन्तु बहुत कुछ सीमित रूप में ही। भगवान राम ने अपनी इस विश्व-मोहनी सौन्दर्य-शक्ति का वैसा विशेष उपयोग भी नहीं किया जैसा श्रीकृष्ण ने किया है। कृष्ण-काव्य में भगवान कृष्ण अपने को नितान्त अव्यक्त रूप में ही नहीं रखते वरन् अनेक प्रकार से अपने को प्रगट भी करते हैं, किन्तु राम-काव्य में भगवान राम ने अपने को बहुत ही अव्यक्त रूप में ही रक्खा है। श्रीकृष्ण ने यथावश्यकता अपनी अलौकिक दिव्य शक्तियों को भी यथेष्ट रूप में यथावसर तथा यथा-स्थान प्रगट किया है किन्तु भगवान राम ने उस प्रकार नहीं किया। इसलिये कृष्ण-काव्य में भक्ति का रूप जैसा निखर सका है, राम-काव्य में वैसा नहीं। राम का पवित्र चरित्र बहुत ही मर्यादित और गम्भीरता तथा गूढ़ता लिये हुए है, किन्तु कृष्ण का चारु चरित्र विचित्र विलक्षणता से भरा हुआ है साथ ही वह भक्ति विमोहक और उनका विशेष परिचायक है।

भगवान कृष्ण की दुरत्यया योगमाया कृष्ण-काव्य में तो कार्य करते हुए मिलती है किन्तु राम-काव्य में नहीं। ईश्वर में जिस प्रकार सब प्रकार के विरोध को सर्वथा घटित होता हुआ कहा जाता है, ठीक उसी प्रकार कृष्ण में भी दिखलाया गया है। एक ओर तो उनका परम प्रेम लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों में प्रस्फुटित होता है और दूसरी ओर उसी के साथ उनका योग-बल भी प्रगट होता है। कृष्ण को इसलिये भगवान माना जाकर न केवल अंशावतार ही माना गया है वरन् पूर्णावतार भी कहा गया है। "कृष्णस्तु भगवान स्वयम्"-किन्तु राम-काव्य में न तो ऐसा परम प्रेम और शृंगार ही लक्षित होता है और न योग-बल ही। यहाँ राम में गूढ़ता, गम्भीरता और मर्यादा-पालनता की महत्ता का भाव जितना अधिक है उतना कृष्ण में नहीं। श्रीकृष्ण में शृंगार-प्रेम सर्वथा साकार और सजीव रूप में निखरा है, किन्तु श्रीराम में नहीं।

कृष्ण ने काम पर प्रेमातिरेक से विजय पायी, किन्तु राम ने वैमुखीवृत्ति से। कृष्ण की रास-लीला के रस-विलास-विधान को देखकर मदन मूर्छित हो पराभूत होता है, रति उसे आकर उठा ले जाती है। फिर भी राधा-माधव और गोपी-कृष्ण का रास-रस-विलास चला ही जाता है। इससे ध्वनित है कि रास-रस काम-प्रभावित न था, वरन् वह काम का दमन करने वाला था। मानस के पुष्पवाटिका के प्रसंग में राम का काम के साथ युद्ध सा दिखलाया गया है, राम जानकी के प्रति वैमुखीवृत्ति ही रखते हैं और ध्यान देते हैं उन पर केवल तभी जब धनुष-यज्ञ में जानकी भी दासत्व स्वीकार कर लेती हैं। नन्ददास-कृत रास-पंचाध्यायी अध्याय ५ और मानस इसके लिए प्रमाण-रूप में अवलोकनीय हैं। रास-विलास से राज-योग के द्वारा चित्त की वृत्तियों पर उनकी आत्यंतिक पूर्ति-जन्य संतोषातिशय्य से विजय दिखलायी गई है, किन्तु पुष्प-वाटिका के प्रसंग में वृत्ति-निरोध और आत्म-



बोध[illegible] के साथ विरा[illegible] के द्वारा वैमुखी वृत्ति की सहायता से चित्त को दु[illegible] माया को अपनी दासी किया गया है। तुलसीदास ने माया रूपी जानकी पर लुभा जाने वाले मन को राम के द्वारा जानकी के ही समीप रखा दिया है।

कृष्ण-काव्य में ऐसा न दिखाकर, दिखाया यों गया है, कि कृष्ण तो सब का मन ले लेते हैं किन्तु अपना मन वस्तुतः किसी को नहीं देते।

कृष्ण का विचित्र चरित्र सब प्रकार स्थान स्थान और समय समय पर लोक-मर्यादा से परे सा होता हुआ लोकेतर सा प्रगट होता है। चूँकि कृष्ण-काव्यकारों ने भगवान के सौन्दर्यानन्द-रूप को नियमानुसार प्रधानता दी है इसीलिये कृष्ण-काव्य में सौन्दर्य-चित्रण और प्रेम-माधुर्य-वर्णन की विशद विशेषता है। इसी में लौकिकता के आवरण में अलौकिकता का पूरा आभास दिया जा सका है। कृष्ण ने ऐसी ललित लीलायें की हैं, जिनसे उनका शुद्ध वैष्णव रूप प्रत्यक्ष ही सा हो जाता है। इसलिये कृष्ण-काव्यकारों को स्वभावतः ऐसे चित्रणों में बड़ी सराहनीय सफलता मिली है। भक्त और भगवान के सम्बन्ध का जितना सुन्दर निरूपण कृष्ण-काव्य में हुआ है, उतना अन्यत्र नहीं हो सका। भगवान कृष्ण जड़ और चेतन, अंतरंग और बहिरंग प्रकृति के सभी रूपों के साथ अपनी ललित लीलायें करते हैं। इसलिये कृष्ण-काव्य में प्रकृति के ऐसे स्वरूप बड़ी व्यंजता से चित्रित किये गये हैं। यद्यपि सूरदास का काव्य हिन्दी-कृष्ण-काव्य की परम्परा में प्राथमिक काव्य है, तथापि वह अपने में इतना पूर्ण है कि उसके पश्चात् फिर दूसरे कृष्ण-काव्यकारों को और कुछ विशेष लिखने का अवसर और स्थान सम्भवतः मिल ही नहीं सका, और हिन्दी के कला-काल तक में आकर

कविजन प्रायः कृष्ण की उन्हीं परम्परा गत लीलाओं को शब्दान्तर के साथ कुछ हेर-फेर कर कहते रहे हैं।

कृष्ण-काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें ज्ञान-पक्ष और उपासना या भक्ति-पक्ष तथा भावना-पक्ष तीनों समान रूप में मिलते हैं। तीनों पक्षों का सुन्दर समन्वय इसी काव्य में हुआ है। यद्यपि आलोचकों ने भाव-भावना-पक्ष को ही विशेष प्रधानता कृष्ण काव्य में मानी है, परन्तु यह वस्तुतः एकांगी या संकीर्ण विचार है। इतना ही नहीं, कहीं कहीं तो किसी किसी आलोचना में भावना-पक्ष को इतना अधिक प्रधान कहा गया है कि उसके कारण कृष्ण-काव्य में अश्लीलत्व का आभास सा भी दिखलाया गया है। यद्यपि वास्तव में यह विचार भ्रमात्मक है। सत्य तो यह है कि जहाँ कहीं भावना-पक्ष कुछ प्रबल भी है वहाँ भी ज्ञान-पक्ष उससे किसी भी प्रकार कुछ न्यून नहीं हुआ, दोनों ही पक्ष बराबर ही समानता के साथ सर्वत्र सुन्दर समन्वयात्मक रूप में ही चलते हैं। इसी के साथ कृष्ण-काव्य में एक और भी बड़ी विशेषता यह है कि सर्वथा रसात्मक होता हुआ भी कृष्ण-काव्य गहन ज्ञानात्मक होकर सर्वथा सरस काव्यात्मक भी है। इस काव्य में काव्य-कला का कौशल उतना ही प्रधान और प्रचुर है जितना रस-कौशल। कल्पना-कौतुक की भी कोई ऊनता इस काव्य में कहीं नहीं। इस प्रकार कहना चाहिये कि इसी काव्य में कला, रस, भाव, कल्पना और विचार-गाम्भीर्य सबका सुन्दरता से समुपयुक्त समन्वय है। ऐसा समन्वय अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता। कृष्ण-काव्य के दो मुख्य रूप हैं, एक तो साहित्यिक और छंदात्मक और दूसरा सामान्य तथा संगीतात्मक। इसलिये तो साहित्य और संगीत दोनों ही का एकीकरण भी इसी काव्य में सराहनीय सुन्दरता से किया गया है।

सूर-काल में धार्मिक स्थिति

अपने मूल विषय पर आने से पूर्व यहाँ यह भी देख लेना उपयुक्त जान पड़ता है कि सूरदास के समय में समाज की धार्मिक अवस्था कैसी थी। यह कहा जा चुका है कि स्वामी वल्लभाचार्य के द्वारा ब्रज-प्रान्त से शुद्धाद्वैतवाद नामक दार्शनिक या आध्यात्मिक सिद्धान्त तो एक ओर और कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी उपासना-मार्ग दूसरी ओर प्रचलित किया जा रहा था। इससे पूर्व स्वामी रामानुजाचार्य और स्वामी रामानन्द के द्वारा विशिष्टाद्वैतवाद नामक एक अन्य दार्शनिक सिद्धान्त और रामोपासना का भक्ति-मार्ग दूसरी ओर चलाया जा चुका था। इस मार्ग के अनुयायी गो० तुलसीदास भी सूरदास के ही समय में थे। काशी-प्रान्त में उसी समय शैव और शाक्त सम्प्रदायों के साथ वेदान्ताधारित श्री शंकर स्वामी का अद्वैतवाद और शैवोपासना का भी प्रचार था। इस समय यद्यपि द्वैतवाद भी यहाँ चल रहा था किन्तु प्रबलता और प्रचुरता से नहीं। मुसलमानों के प्रभाव से वेदान्त प्रभावित सूफी सम्प्रदाय भी सौन्दर्य-प्रेम को ईश्वरोपासना में प्रधानता देता हुआ चल रहा था। किन्तु इसका कोई भी विशेष प्रभाव हिन्दू-समाज पर न पड़ा था। यद्यपि जायसी आदि कतिपय सूफी फकीरों ने अपने प्रेमात्मक कथा-काव्य के द्वारा इसे विस्तृत और व्यापक बनाने में बहुत प्रयत्न किया था। इसी के साथ कबीर और नानक जैसे महानुभावों ने भी अपने अपने विशेष पंथ चला रक्खे थे। नानक-पंथ का कोई विशेष स्पष्ट प्रभाव हिन्दी-प्रान्त पर कुछ भी नहीं पड़ा। यही बात बहुत कुछ कबीर-पंथ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कबीर-पंथ ने हिन्दू-मुसलमान दोनों समाजों के निम्न स्तर पर भले ही कुछ थोड़ा प्रभाव डाला हो, किन्तु उनके ऊँचे स्तरों पर उसका कोई भी विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, और न पड़ ही सकता था। यदि कुछ प्रभाव पड़ता तो हिन्दू-धर्म का चित्र ही विचित्र हो जाता। कबीर

अल्पज्ञ, विचार-संग्रहकर्ता और भ्रमोत्पादक से थे। अतएव सूरदास के समय में देश की धार्मिक दशा सब प्रकार अस्थिर और अस्तव्यस्त सी रही थी। यह बहुत ही सराहनीय बात है कि ऐसे समय में सूर ने अपनी रचनाओं के द्वारा बल्लभाचार्य के कृष्ण-भक्ति-प्रचार में बहुत अधिक सहायता पहुँचाई और उसे ऐसा प्रबल और प्रधान कर दिया कि न केवल पुरुष-समाज में ही वरन् स्त्री-समाज में भी उसका प्रचुर प्रचार हो गया और सारे उत्तर भारत में वह व्याप्त हो गया। संगीतात्मक होने से उनकी रचनायें संगीतज्ञों के द्वारा गायी जा कर लोगों की रसनाओं पर सर्वथा रम-जम गयीं और हिन्दू-हृदय पर उन्होंने अपना पूरा अधिकार कर लिया। भावना-प्रधान होने से वे लोक-प्रिय भी बड़ी सरलता से हो सकीं।

यद्यपि देश के कितने ही पंथ और कितने ही सम्प्रदाय अपनी अपनी विशेष विचार-धाराओं के साथ चल रहे थे, किन्तु सूरदास की रचनाओं पर कोई प्रभाव न पड़ा क्योंकि वे केवल एक ही स्थान और एक ही प्रकार की धार्मिक परस्थिति में रहे और केवल एक ही सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते रहे। किसी भी प्रकार किसी भी दूसरे सम्प्रदाय और पंथ आदि की विचार-धाराओं का कोई विशेष प्रभाव उन पर नहीं पड़ सका। ठीक इसके विपरीत बात कबीर आदि के सम्बन्ध में कही जा सकती है। सूरदास केवल बल्लभ-सम्प्रदाय की विचार-धारा ही सुना करते थे और वल्लभाचार्य की ही सेवा में रहकर वहाँ पर होने वाले भगवान के भजन और भागवत् आदि के पारायणादि में रहते थे, इसलिये उसी विचार-धारा का उनकी रचना में पूरा प्राबल्य और प्राधान्य है। विपरीत इसके तुलसीदास की रचनाओं में, चूँकि वे बहुत बहुज्ञ, बहुश्रुत और सत्संगानुरागी थे, अन्य मतों की भी विचार-धारा यथा स्थान और यथावश्यकता मिलती है। कहना चाहिये कि कृष्ण-भक्ति अथवा कृष्णोपासना और श्री वल्लभाचार्य का दार्शि-

नक सिद्धांत सूर की रचनाओं में बहुत अधिक सत्यता अथवा यथार्थता के साथ लक्षित होता है। यह ठीक है कि श्री बल्लभाचार्य की उपासना-पद्धति और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों से कुछ भिन्न विचार भी सूर की रचनाओं में मिलते हैं, इसका कारण सम्भवतः यही जान पड़ता है कि ब्रजागत कृष्ण-भक्ति के अन्य सम्प्रदायों से भी कदाचित सूरदास का कुछ सम्बन्ध हुआ होगा, और इस प्रकार सूरदास पर उनके विचारों का भी कुछ प्रभाव पड़ा रहा होगा। मथुरा, वृन्दावन आदि में प्रायः विभिन्न सम्प्रदायों के कृष्ण-भक्त एकत्रित होकर परस्पर श्री कृष्ण-भक्ति के रूप में विचार-सम्बन्धी आदान-प्रदान करते रहे होंगे। निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि सूरदास की रचना में वल्लभीय सिद्धान्त और उपासना का बहुत कुछ सच्चा स्वरूप मिलता है। हाँ कहीं कहीं कुछ पार्थक्य सा भी जान पड़ता है किन्तु ऐसे स्थल प्रायः प्रक्षिप्तांश ही माने जा सकते हैं, अथवा वहाँ सूर पर बाहिरी प्रभाव का आभास ही कहा जा सकता है, क्योंकि यह समीचीन नहीं जान पड़ता कि सूरदास श्री वल्लभाचार्य से पृथक विचारों के काव्य में रखने की अवज्ञा करने का अन्यथाचार करते।

बल्लभ-सम्प्रदाय और सूर

दार्शनिक रूप में वल्लभाचार्य मूलतः अद्वैतवादी हैं किन्तु शंकर स्वामी के समान नहीं। शंकर स्वामी के अनिवर्चनीय मायावाद को अपने विशेष रूप में रख कर उन्होंने अपने सिद्धान्त को शुद्धाद्वैत का विशेष रूप दिया था। सूरदास ने भी उनके शिष्य हो कर इसी शुद्धाद्वैत को ग्रहण किया, किन्तु वे चूँकि दार्शनिक न थे, इसलिये उनकी रचना में यह दार्शनिक सिद्धान्त काव्य के सुन्दर साँचे में ढला हुआ पाया जाता है और विशेषतया उनके विनय के पदों

में तथा भ्रमर-गीत के प्रसंग की तो प्रायः सभी रचनाओं के अंशों में इसका अच्छा आभास मिलता है।

जहाँ तक उपासना का सम्बन्ध है, वल्लभाचार्य ने भगवान कृष्ण के प्रेम-शृंगारमय निपुण नायक के रूप को ही प्रधानतया उपास्य और सेव्य माना है। उनके इस मार्ग में हठ-योग की अपेक्षा राज-योग की ही विशेष प्रधानता है, जिसके आधार पर मन को चारों ओर से आसन आदि के द्वारा जकड़कर वलात् इच्छा-रहित नहीं किया जाता है, वरन् इच्छाओं की अत्यंत पूर्ति करते हुए चित्त-वृत्तियों को नियंत्रित किया जाता है। चूँकि भगवान का प्रेम-शृंगार-मय स्वरूप ही गेय और ध्येय माना गया है, इसलिये भक्तों को शृंगार-सुख की सामग्री का सर्वथा वहिष्कार नहीं करना पड़ता। यह आवश्यक है कि उसका सर्वथा सदुपयोग ही किया जाये। सूरदास ने इसी आधार पर भगवान के सौन्दर्य-शृंगार और प्रेम का बहुत ही रुचिर, रोचक, रागात्मक और सरस सुखद चित्रण चारु चातुर्य से किया है। उनके अंग-प्रत्यंग के सौन्दर्य से विमोहित होकर उसी रूप के दर्शन और ध्यान को विशेषता दी है। इसके साथ ही उन्होंने भगवान के वाल-स्वरूप को भी ध्येय (ध्यान धरने के योग) गेय और सेव्य सा दिखलाया है। इस प्रकार अपनी रचना में उन्होंने कृष्ण भगवान की वालोपासना को भी अच्छा स्थान दिया है।

अवस्थाओं के भेद से वालोपासना के कई रूप हैं, प्रथम रूप तो वह है, जिसमें भगवान का शिशु-रूप आता है और जिसके सम्बन्ध में कहा गया है—"करारविन्देन पदारविन्दम् मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्-वटस्य वृक्षस्य पुटे शयानम् वालम् मुकुन्दम् शिरसा नमामि"—अर्थात् अपने कर-कमल से स्वमुख-कमल में अपने चरण-कमल को रखते हुए वट-वृक्ष के पत्र पर सोते हुये बाल मुकुन्द को मैं नमस्कार करता हूँ। हरि का यह शैशव-स्वरूप ठीक इसी प्रकार

के चित्र के साथ तो सूर के काव्य में नहीं आता, किन्तु कृष्ण के शैशव-रूप का बहुत ही सुन्दर और भाव-पूर्ण चमत्कृत चित्रण अवश्य ही आता है। भगवान की शिशु-मूर्ति पर परम विमोहक दैवी सौन्दर्य सदा पूर्ण प्रसन्नता के साथ खेलता रहता है। इसी शिशु-काल में ही भगवान श्री कृष्ण ने पूतना-बध आदि की दुर्ललित लीलाओं से अपनी महान शक्ति, आदि का परिचय भी दिया है, इसलिये कृष्ण-काव्य में भगवान का शैशवकाल वह काल है जिसमें भगवान की शक्ति के साथ ही सौन्दर्य, सुख और प्रेम का सुन्दर समन्वय मिलता है। यह विशेषता भगवान राम के शैशव काल में इस प्रकार नहीं मिलती। मानस में तो गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान की वालोपासना और भक्ति कुछ बहुत स्पष्ट रूप में नहीं रक्खी, हाँ, राम के शिशु-रूप का अंग-प्रत्यंग-सौन्दर्य-वर्णन बड़े ही मार्मिक और मर्यादित रूप में कर उनके क्रमशः बाल, किशोरादि रूपों का संक्षिप्त रूप से सुन्दर सांकेतिक चित्रण किया है, और बीच-बीच में राम का ब्रह्मत्व और ईश्वरत्व भी बड़ी कुशल व्यंजना के साथ प्रकट करते गये हैं, किन्तु कवितावली में कई छन्द राम के शिशु-रूप को ध्येय और सेव्य सा प्रकट करने वाले अवश्यमेव उन्होंने दिये हैं।

"अवधेस के बालक चार सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरैं।

× × × ×

"मन में न बस्यो अस दुर्मिल बालक तौ जग मैं फल कौन जिये—"

× × × ×

इस रूप के पश्चात् भगवान का वाल-काल आता है और वह लगभग दस वर्ष की अवस्था तक चलता है। इस काल में उनकी परम विमोहक और हृदय-हर्षक वाल-लीलाओं का समाकर्षक-चित्रण तो हुआ ही है, साथ ही उनकी अन्य कतिपय असुरों के बधों की

लीलाओं का भी रुचिर रोचक वर्णन किया गया है, जिसके कारण भगवान की असीम शक्ति का फिर पुष्कल परिचय मिल जाता है। तीसरा स्वरूप कृष्ण की कलित कमनीय किशोर-अवस्था का है, जिसमें कृष्ण के चातुर्य (वाक्चातुर्य और क्रिया-चातुर्य) का मनोरम और गूढ़ वर्णन किया गया है इसी अवस्था से गोपिकाओं का पुनीत प्रणय-प्रसंग भी प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार इस बालोपासना-सम्बन्धी भाग में सूर की मार्मिक विशेषतायें प्राप्त होती हैं। यह ठीक है कि यह प्रसंग आधारित अवश्यमेव बहुत-कुछ भागवत पर ही है।

इसके आगे कृष्ण के युवा कालीन रसिक नायक-रूप का विशद वर्णन आता है। यह वर्णन आद्योपान्त शृंगार-रस-विलास से परिपूर्ण है और कहना चाहिये कि यही वर्णन रस-राज शृंगार रस का मार्मिक, मनोरम और सुखद स्पष्टीकरण भी है। इसमें आदर्श रसिक मानव-हृदय के साथ ही दिव्य भावुक हृदय की भव्य प्रेमात्मक सभी सुन्दर से सुन्दर भावनाओं का बहुत सुखद सुधा-सार और सांगोपांग विवेचन है। साथ ही इसमें अद्योपान्त आध्यात्मवाद के गहन, गूढ़ सिद्धान्तों का प्रसंग-प्रवाह चारु चातुर्य और मनोहर माधुर्य के साथ चलता है, जिस पर योग तथा मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का भी स्थान स्थान पर यथोचित प्रभाव है। यह भाग बहुत ही गूढ़ सैद्धान्तिक और मार्मिक है। सबसे बड़ी विशेषता तो इस प्रसंग के काव्य में यह है कि दार्शनिक सिद्धान्त जो स्वभावतः नितान्त शुष्क और नीरस से ही होते हैं शृंगार और प्रेम के सरस आवरण में ऐसे चारु चातुर्य-पूर्ण चमत्कार के साथ श्रुति-सुखद, सरस और सुबोध भाषा में रक्खे गये हैं कि साधारणतया प्रेमी पाठक इस भाग की रचनाओं के ऊपरी सरस सौन्दर्य में विलीन से ही हो जाते हैं और इसके आन्तरिक आध्यात्मिक रूप को प्रायः नहीं देख पाते, उनकी भावना-वृत्ति सर्वथा समुद्दीप्त हो बोध-वृत्ति को दबा ही सा लेती है। कहना चाहिये

कि इसी भाग में सिकता में रसिकता और सरसता में विरसता और सरलता में गूढ़ता का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। भगवान की तरुण प्रेम-मूर्ति के अनुपम आंगिक सौन्दर्य का ललित वर्णन भी इसी भाग में है। इस प्रसंग का आंगिक सौन्दर्य-वर्णन सामुद्रिक शास्त्र के नियमों और सौन्दर्य-सिद्धान्तों पर समाधारित है। प्रायः आलोचक इस भाग में प्रयुक्त की गयी सुन्दर उपमाओं को केवल कवि-परम्परागत अलंकार-रीति-पद्धति का अनुकरण मात्र ही समझ बैठते हैं और उक्त शास्त्रों के सुबोध से दूर होने से इसका वास्तविक मर्म नहीं देख पाते। किन्तु वस्तुतः बात यह नहीं है। भगवान कृष्ण के अङ्ग-प्रत्यंग का जो वर्णन यहाँ किया गया है वह शास्त्र-सिद्धान्त-सम्मत है और केवल कोरी कवि-कल्पना-कृत तथा कवि-परम्परागत उद्दीपन-पद्धति का निर्वाह और प्रतिरूप नहीं है। यह समस्त वर्णन वस्तुतः शुद्ध धार्मिक विचारों के साथ शास्त्रीय सिद्धान्तों का व्यंजक सौन्दर्य प्रियता की मनोवृति और रागात्मिकावृति का अनुरंजक होकर भी अति मनोरंजक है। सब का सब प्रसङ्ग प्रायः सहेतुक और साभिप्राय है।

इसी भाग में दूसरा विशेष स्थल भगवान के मुरली-गायन या वेणु-वादन का है। भगवान की सुरीली मुरली उनकी मोहनी माया है। वह रागात्मिका वृति को शुद्धता, सात्विकता और रस-सारता के साथ पूर्णतया उद्दीप्त कर दिव्यानन्द-सागर में विलीन कर देती है। इसी के पश्चात् फिर कृष्ण के समस्त प्रेम-शृंगार का दिव्याद्भुत लीला-सार अप्रतिम रास-रस-विलास का कमनीय कौतुक आता है। यह भी सर्वथा आध्यात्मिक सिद्धान्त-सार-पूर्ण होता हुआ भी अत्यन्त सरस, मधुर और मंजु मनमोहक है। संयोग-शृंगार का तो मानो यह ऐसा सौम्यागार है कि इसमें प्रीति-रस-रीति के सर्वथा साकार सफल क्रीड़ा-कौतुक का काम्य कुतूहल-कारी कौशल है। इसमें

बाहर से तो लौकिक शृंगार है और अतंस्तल में आत्मा और परमात्मा के मंगलमय अलकिक आनन्द से परिपूर्ण संयोग-सुख का गूढ़ गोपनीय और रम्य तथा रुचिर-रोचक रहस्य भी संन्निहित है। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर शृंगार रस के दूसरे रूप का चुटीला चित्र चित्रित किया गया है। यह विप्रलम्भ अथवा वियोग-शृंगार का साकार स्वरूप है। इसमें विशेष गम्भीर स्थल या प्रसंग उद्धव-गोपी-संवाद के रूप में है, जिसमें ज्ञान और योग, जिनके प्रतीक उद्धव हैं, और भक्ति तथा प्रेम, जिसकी मृदुमंजुल-मूर्तियाँ गोपिकायें हैं, बड़ी गम्भीरता, गूढ़ता और सरसता के साथ चित्रित किये गये हैं। इसी में ऐसा भी आभास दिया गया है कि योग और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति और प्रेम कुछ विशेषता रखते हैं। इस स्थल में संवाद का बड़ा ही सुन्दर स्वरूप रक्खा गया है। विवेक-पूर्ण तर्क के साथ ही साथ भावुक हृदय की भावना-वृति और इच्छा-वृत्ति का सुन्दर सामंजस्य भी इसी भाग में है। गोपिकाओं के स्त्री-सुलभ स्वाभाविक सारल्य में वाग्वैचित्र्य, बुद्धि-वैचक्षण्य और व्यंजना-वैलक्षण्य का भी बड़ा ही सराहनीय समावेश हुआ है। इन सभी भागों में सूरदास ने अपने विचारों की मौलिकता और मत-स्वतंत्रता का प्रशस्त परिचय दिया है, हाँ, आधार अवश्यमेव परम्परागत बल्लभीय सम्प्रदाय की भक्ति और उपासना के सिद्धान्तों का ही रक्खा गया है।

इन उक्त भागों से अतिरिक्त वल्लभ-सम्प्रदाय के दार्शनिक और औपासनिक मूल-सिद्धान्त विनय के भाग में हैं। इस भाग में सूरदास ने सगुणोपासना का रोचक रहस्य, उसकी आवश्यकता, अथवा महत्ता को भी दिखलाते हुये संसार, संसारिक जीवन और शरीर की असारता को प्रकट कर मानव-जीवनोद्देश्य को भी स्पष्ट करते हुये शारीरिक अंगों का साफल्य केवल कृष्णोपासना में ही दिखलाया है और आत्म-निवेदन और आत्मसमर्पण के साथ स्वापराध-स्वीकरण तथा तदर्थ

भगवान से क्षमा-याचना करते हुए उनकी विनय की गयी है। यह भाग भी बहुत ही मार्मिक और रहस्यमय है। आगे इन सब भागों की यथेष्ट विवेचना और आलोचना इनके रहस्यों के सूक्ष्म सांकोतिक स्पष्टीकरण का कुछ प्रयत्न किया जायगा।

सूर की रचना में उनका दृष्टि-कोण

किसी भी कवि या लेखक की आलोचना करने से पूर्व यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि उसके दृष्टि-कोण का यथोचित विचार कर लिया जाय और उस दृष्टि-कोण का सामंजस्य अपने दृष्टि-कोण के साथ भी कर लिया जाय, क्योंकि कवि या लेखक अपने किसी विशेष दृष्टि-कोण ही से रचना किया करता है, किसी अन्य व्यक्ति के नहीं, किन्तु ऐसा करते हुए उसे समय और समाज के दृष्टि-कोण को भी न्यूनाधिक रूप से अपने ध्यान में रखना पड़ता है, साथ ही अपने दृष्टि-कोण की समीचीनता और उपयोगिता का भी पूरा विचार रखते हुए आत्महित और लोक-हित का भी विचार रखना पड़ता है।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि सच्चे आत्महित में लोक-हित बराबर सन्निहित रहता है। यदि यह समझ लिया जाय कि सर्वत्र लोक में एक परमात्मा का रूप ही है और मेरा ही आत्मा या मेरा ही सा आत्मा सर्वत्र उपस्थित है, तथा लोक और आत्मा में यों पूर्णतया ऐक्य है, अनैक्य नहीं अथवा आत्महित को उसके मूल अर्थ अर्थात् आत्मा के हित में लिया जाय तब कवि या लेखक के आत्महित और आत्मभाव में लोक-हित या लोक भाव अवश्यमेव आ जायेगा। तब अपनी रचना के कारण पड़ने वाले प्रभाव के लिए वह पूर्णतया उत्तरदायी हो सकेगा।

इसी प्रकार आलोचक को भी चाहिये कि वह अपनी आलोचना में अपने मनमाने दृष्टि-कोण के आधार पर किसी आलोच्य रचना को न तो

अनुचित रूप से ऊपर ही उठाये और न नीचे ही गिरा दे। उसे पहिले यह देखना चाहिये कि उस रचना का रचयिता अपने उद्देश्य की पूर्ति में, अपने दृष्टिकोण से कहाँ तक सफल हुआ है। तदनन्तर उसे यह देखना चाहिये कि वह अपने उद्देश्य की यथेष्ट पूर्ति करता हुआ लोक-हित कहाँ तक कर सकता है और कहाँ तक अपनी रचना को अपने दृष्टि-कोण के साथ ही व्यापक दृष्टि-कोण से सफल बना सका है।

इस विचार से यही समीचीन है कि प्रथम सूर के उद्देश्य और दृष्टि-कोण का यहाँ यथेष्ट उल्लेख कर दिया जाय।

सूरदास की रचनाओं से यह स्पष्ट ही हो जाता है कि उनका उद्देश्य मूलतः 'स्वान्तः सुखाय' तो था ही, साथ ही यह भी था कि उन रचनाओं के द्वारा कृष्णोपासना अथवा कृष्ण-भक्ति का प्रचार और प्रसार सारे देश और समाज में किया जाय। इसी के लिये स्वामी वल्लभाचार्य से उनको प्रेरणा भी मिली थी और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये उनकी रचना गीत शैली में की गयी थी, और संगीत का मनमोहक तत्व उनमें विशेष रूप से रक्खा गया था। यह भी ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य ने सूरदास जी को भगवान की लीला के कीर्तन के लिये प्रेरित किया था और प्रत्येक समय पर उनसे कृष्ण-लीला-सम्बन्धी यथेष्ट रचनायें करायी थीं। "चौरासी वैष्णव की वर्ता" में लिखा है :—तब आचारीजू महाप्रभुन ने सूरदास जी सों कही—कि जो सूरदास जी ऐसे काहे घिघियात हौ कछु भगवान की आरती के पद् गावते–तब सूरदास ने जो पद गायो।" स्वामी वल्ल-भाचार्य का सूरदास की रचनाओं से मनोरंजन तो होता ही था क्योंकि सम्भवतः मनोरंजन से अधिक इन रचनाओं में कोई और अधिक विशेषता स्वामी जी के लिये न थी। स्वामी जी अपने समय के अप्र-तिम विद्वान और महात्मा थे। इसी व्याज से स्वामी जी लोक-हित के

लिये सूरदास जी के द्वारा भक्ति-भावात्मक ऐसी रचनायें कराते थे, जिनसे तत्रागत श्रोताओं (सुनने वालों) का हित होता था। सूरदास की रचनाओं के इसलिये दो उद्देश्य जान पड़ते हैं। एक तो आत्म-सुख के रूप में है और दूसरा गुरू की आज्ञा से लोक-हित के रूप में। वस्तुतः इन रचनाओं के रचने में सूरदास का उद्देश्य अपनी कवि प्रतिभा का प्रकाशन करना तो नहीं जान पड़ता है, यद्यपि रचनाओं में उनकी प्रतिभा पूर्ण रूप से निखरी अवश्यमेव है और उनकी रचनायें सत्य सत्काव्य की उत्कृष्ट श्रेणी में आती है।

सूरदास की रचनाओं का दूसरा भाग वह है जिसे "साहित्य-लहरी" कहते हैं और जिसमें दृष्टकूट के पद हैं। कूट काव्य को काव्य-शास्त्र के आधार पर साहित्य में अच्छा स्थान नहीं दिया जाता, प्रायः इसे अधम या निकृष्ट काव्य ही माना जाता है, क्योंकि इस काव्य में कौतुक-कारिणी कल्पना का कुतूहल ही प्रायः विशेष प्रधान रहता है और यह काव्य प्रेरणा पाता है मनुष्य की कुतूहल-कौतुक-प्रियता की मनोवृत्ति से। इसमें प्रायः मूलभाव शब्द-जालिका में छिपा कर अथवा उलझा कर इस ढङ्ग से रक्खा जाता है कि उसके खोज निकालने और उसकी उलझन के सुलझाने में विनोद प्राप्त होता हो। इसीलिये इस काव्य में वचन-वक्रता या उक्ति-वैचित्र्य को तो उतनी नहीं, वरन् शाब्दिक वक्तता या वाक्य-वक्रता और भाव-जटिलता को अधिक विशेषता दी जाती है। यद्यपि इस काव्य में प्रायः विर-सता ही सी रहती है और इसके द्वारा रसोद्दीप्ति को कोई विशेष सहा-यता नहीं मिलती तथापि इसकी गुत्थियों के सुलझने पर मन को एक विशेष प्रकार का विनोद अवश्यमेव प्राप्त होता है और उसे आनन्द भी मिलता है, इसलिये काव्य में इसे भी एक स्थान दिया जाता है।

सूरदास ने इस काव्य के क्षेत्र में भी अपनी प्रशस्त प्रतिभा और श्लाघ्य मौलिकता का अच्छा परिचय दिया है, और केवल विनोद के ही

लिये इसे न रखकर प्रायः साभिप्राय और सहेतुक रूप में भी रक्खा है। इस काव्य में भी प्रायः भक्ति-भाव की वही धारा अन्तर्निहित है। इसमें कल्पना-कौतुक का प्राधान्य होते हुये भी सुखद सरसता के लाने का सफल प्रयत्न सूर ने किया है। अतएव कहना चाहिये कि सूरदास का उद्देश्य अपनी रचनाओं में धार्मिकता और प्रेम-भक्ति के प्रसारित करने का ही विशेषतया रहा है। प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने विषय में अपने को लय कर लेते थे और उसके पूरे मर्म तक पहुँच कर भाव-विभोर होते हुये उसे गाने लगते थे। चूँकि वे अपनी रचनाओं को भागवत के ही आधार पर चलाते थे और सभी मुख्य भाव अथवा भावनायें उसी से लेते थे, इसीलिये उनकी रचनाओं में गूढ़ता और गम्भीरता का समावेश स्वभावतः ही हो जाता था और भाषा, भाव तथा शैली सब में सरसता, सरलता और स्वाभाविकता सी भी बनी रहती है।

यद्यपि धर्मिक भावना से प्रेरित होकर भक्ति के प्रचारार्थ सूर ने रचनायें की हैं, तथापि उनका उद्देश्य इन रचनाओं से स्पष्टतया यह नहीं प्रतीत होता है कि वे अपना कोई विशेष पंथ चलाना चाहते थे। साथ ही यह भी स्पष्ट रूप में नहीं सिद्ध होता कि इन रचनाओं में उनका उद्देश्य वल्लभ-सम्प्रदाय के विचारों का प्रचार करना ही रहा हो, क्योंकि इन रचनाओं में सर्वत्र ही सूर की तन्मयता स्पष्ट रूप से लक्षित होती है। यद्यपि सत्काव्य के सभी प्रमुख लक्षण अपने सुंदर रूपों में इनकी इन रचनाओं में मिलते हैं, किन्तु इन रचनाओं से स्पष्टतया यह प्रतीत नहीं होता कि वे काव्य के लिये रची गई हैं और इनके रचयिता का उद्देश्य अपनी कवि-प्रतिभा का प्रकाशन करना है। यदि सूर जन्मान्ध थे तो उन्हें काव्य-शास्त्र का विशेष ज्ञान ही न होना चाहिये, बल्लभ-मण्डल में रहते हुये भी उन्हें भक्ति-सिद्धान्त का ज्ञान तो भले ही हो गया रहा होगा किन्तु काव्य-शास्त्र का यथेष्ट

ज्ञान न तो उन्हें हुआ ही था और न हो ही सकता था। काव्य-सौन्दर्य यदि उनकी रचनाओं से सुचारू रूप से मिलता है तो सम्भवतः इसी कारण कि वे रचनायें भगवान व्यास कृत भागवत जैसे उत्कृष्ट काव्य पर समाधारित हैं। चूँकि इनमें धार्मिक उद्देश्य को ही प्रधानता देने का विचार रखा गया है, इसलिये प्रकृति का विशद चित्रण, कथानक की शृंखलावद्धता आदि काव्य की विशेषतायें इन रचनाओं में नहीं पायी जातीं। इसलिये यह कहना कि सूरदास ने प्रकृति का चित्रण नहीं किया और काव्य की अन्य विशेषतायें उनमें नहीं मिलती, वस्तुतः न्याय-संगत नहीं। ऐसा उनका उद्देश्य ही न था, वे काव्य लिखते थे एक अपने विशेष धार्मिक उद्देश्य और भक्ति-भाव की प्रेरणा से।

सूर का कृष्ण-काव्य

संकेत-रूप में यह कहा जा चुका है कि सूर के समय में हिन्दू-समाज की धार्मिक स्थिति बहुत ही संकटापन्न थी, विशेषतया हिन्दू-समाज के निम्न स्तर की, जिसमें न तो ज्ञान की ही सम्पन्नता थी और न बुद्धि-विवेक की ही विशेषता थी और न भौतिक संपत्ति की ही संपन्नता थी। यह स्तर इस समय बहुत ही अनिश्चित दशा में पड़ा हुआ था, साथ ही हिन्दुओं का शिष्ट और उन्नत समाज भी अपनी धार्मिक सत्ता और महत्ता में दृढ़ता न रखने के लिये राज-नीतिक प्रभ व और राज-प्रतिष्ठा की प्राप्ति के प्रलोभन के कारण स्वधर्म-विहिताचार से अन्यमनस्क होने को वाध्य हो रहा था। उसे मुसलमानी राज्य में प्रतिष्ठा के प्राप्त करने की आकांक्षा इस बात के लिये प्रेरित करती थी कि वह मुसलमानों के साथ रहकर अपनी संस्कृति, सभ्यता और अपने साहित्य की परंम्परा को मुसलमानी संस्कृति, साहित्य और सभ्यता से प्रभावित न होने दें—निम्न स्तर भी जजिया आदि करों के

न दे सकने के कारण अथवा शाही दरबार से अप्रतिष्ठा पाने के कारण अपनी धार्मिक परम्परा से प्रथक होने के लिये बाध्य सा हो रहा था। इसी के साथ राज्य-भय भी व्यापक रूप में इसका मुख्य कारण था। राज-सत्ता के प्रभाव से अतिरिक्त मुसलमानी फ़कीर आदि भी हिन्दू समाज में प्रवेश कर विविध प्रकार के धार्मिक प्रलोभनों तथा छल-प्रपंचादि के द्वारा अपने प्रभाव के डालने का प्रयत्न कर रहे थे। वे यह जानते थे कि कोई भी हिन्दू उनका स्पर्श किया हुआ भोजन या जल ग्रहण करके हिन्दू नहीं रह सकता और चूँकि हिन्दू-धर्म बुद्धिवाद को प्रधानता दे कर ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति का उपदेश करता है और ज्ञान की यह मात्रा प्रर्याप्त रूप से सबके लिये सरल-साध्य नहीं है, इसलिये समाज का बहुत बड़ा भाग केवल कुछ नियमों के परिपालन से ही नाम मात्र के लिये ही हिन्दू है। इसलिये यदि उसे तनिक धार्मिक सुविधायें दे दी जाये तो उसे उसके मार्ग से विचलित कर दूसरे मार्ग पर लाया जा सकता है। केवल अन्यथा धार्मिक विश्वास और धार्मिक भावना की जाग्रति ही पर्य्याप्त है। यह कार्य बड़ी सरलता और सुविधा से हो सकता है, यदि हिन्दू-समाज के निम्न स्तर की जनता के हृदय में हिन्दू-धर्म की निर्बलता, दुरूहता तथा दुष्करता दिखलाते हुए उसकी कटु आलोचना की जाय और मुसलमान धर्म की सरलता, सबलता और सुकरता को दिखलाकर उसकी प्रशंसा कर दी जाये तो इस प्रकार उसे उस ओर से विमुख कर अपनी ओर फेर लिया जा सकता है।

इसी समय में स्वामी वल्लभाचार्य ,स्वामी रामानुजाचार्य और स्वामी रामानन्द जैसे प्रात-स्मरणीय महात्माओं ने अपनी दूर-दर्शिता और सूक्ष्मदर्शिता के प्रभाव से हिन्दू समाज की विषम धार्मिक स्थिति के मर्म-स्थलों को समझते हुए हिन्दू-धर्म की रक्षा का जो सफल और संतत सराहनीय कार्य किया उसका एक बहुत बड़ा सुन्दर परिणाम

हिन्दी-काव्य के अभ्युदय के रूप में हुआ और काव्य की दो प्रमुख धारायें ऐसी प्रवाहित हुईं जो तब से आज तक देश और समाज में भयङ्कर परिवर्तनों के हो जाने पर भी अबाध गति से बराबर चली जा रही हैं। इनमें से एक धारा तो उस राम-काव्य की है, जिसके कारण विशेषतया अवधी भाषा को काव्य-भाषा के होने का गौरव प्राप्त होकर साहित्य के क्षेत्रों में ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ। दूसरी धारा उस कृष्ण-काव्य की है, जिसके कारण ब्रजभाषा काव्य की एक मात्र सर्वमान्य भाषा होकर समस्त उत्तरीय भारत में व्याप्त हो गयी और उससे ऐसा सुन्दर और सफल सराहनीय काव्य-साहित्य उपस्थित हो गया, जिसमें हिन्दू संस्कृति, हिन्दू-सभ्यता, हिन्दू-धर्म और हिन्दू चारित्रिक परम्परा बहुत ही सुन्दरता और सरसता के साथ पूर्णतया प्रतिबिम्बित है तथा जिसमें भारतीय हृदय का सच्चा स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण प्राप्त होता है।

स्वामी वल्लभाचार्य की प्रशस्त प्रेरणा से महात्मा सूरदास ने सब से प्रथम साहित्यक सौष्ठव के साथ भक्ति-भाव-भूषित तथा सर्वथा अदूषित कृष्ण-काव्य का सरस और मनोरम गायन किया। पद-शैली में रचे जाने से उनका कृष्ण-काव्य सुगेय तथा सरस होने के कारण पुरुष और स्त्री दोनों ही समाज में प्रचुरता से व्याप्त हो गया। इस लिये कृष्ण-भक्ति के आन्दोलन को इससे बहुत बड़ी सहायता मिली। इसके संगीत तत्व ने इसकी रोचकता को द्विगुणित कर इसे भावना प्रधान साधारण मनुष्यों और स्त्रियों की भी रसनाओं पर चिरकाल के लिये रमा और जमा दिया। साथ ही इस काव्य में चूँकि हृदय-पक्ष की विशेष प्रधानता है, यद्यपि ज्ञान या बुद्धि का पक्ष भी किसी दशा में कदापि कुछ कम नहीं है और कला-पक्ष का भी इस पर गहरा प्रभाव है, इसलिये साधारण-साधारण दोनों ही जन-समुदाय में यह बहुत गहराई और दृढ़ता से प्रवेश कर सका। काव्य या साहित्य

के क्षेत्र में भी इस काव्य की इन्हीं विशेषताओं ने एक युगान्तर ही उपस्थित कर दिया।

काव्य के लिये कृष्ण और उनकी लीलायें एक प्रकार से निश्चित वर्ण्य विषय सी हो गयी है, क्योंकि इससे दो प्रयोजन एक साथ ही सिद्ध हो जाते हैं, जैसा कहा भी गया है—"आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई न तु राधिका-कन्हाई-सुमिरन कौ बहानौ है।" इस काव्य के द्वारा भारतीय जीवन का अनुराग-राग-रंजित रुचिर रूप बड़ी चतुरता और चारुता से रक्खा गया है। लौकिक जीवन के अंतरंग और बहिरंग दोनों रूपों से सम्बन्ध रखने वाले सभी विशेष रसिक-रमणीय जीवन-चित्र और पवित्र भावना-भाव इस काव्य में विचित्र रोचकता और रुचिरता से चित्रित किये गये हैं।

जायसी जैसे मुसलमान फकीरों ने भारतीय प्रेम-कथायें ठेठ प्रान्तीय बोलियों में लिख कर उनके द्वारा अपने सूफी मत के प्रभावों को हिन्दू-जनता पर डालने का प्रयत्न किया था, क्योंकि मानव-हृदय पर प्रेम और करुणा दोनों ही भावनाओं का जितना अधिक गहरा प्रभाव जितनी शीघ्रता से दृढ़ता के साथ पड़ता है और जितने अधिक समय तक वह स्थित रहता है, उतना प्रभाव उतनी दृढ़ता से उतनी शीघ्र और उतने अधिक समय तक साधारणतया अन्य भावनाओं और रसों का नहीं पड़ता। सूफी फकीरों ने इसलिये शृंगार रस के दोनों पक्षों को, जिनमें इन रसों की धारायें प्रवाहित रहती हैं, अर्थात् संयोग, वियोग या विप्रलम्भ उठाया, किन्तु शृंगार का केवल दाम्पत्य-भाव-सम्बन्धी प्रेम ही उनके द्वारा गहरे रंगों से चित्रित किया गया। शृंगार रस के स्थायी भाव रति की विशद विश्व-व्यापकता का ध्यान उन्होंने नहीं रक्खा, क्योंकि सूफी सम्प्रदाय में केवल माधुर्य-रति ही अधिक प्रबलता और प्रचुरता से कार्य करती है--किन्तु भक्त

कवियों ने उनकी इस संकीर्णता को समझकर भक्ति के प्रचार-क्षेत्र में रति अथवा प्रीति (प्रेम) के सभी प्रमुख पटलों को रुचिर-रोचक रंगों में लगभग समानता से चित्रित किया है और भक्ति में प्रेम को एक विशेष विशद और व्यापक रूप में रक्खा है, वह भी शुद्धता और सात्विकता से साथ। ऐसा करते हुये उनका प्रेम-चित्रण विशेष वैषयिक न हो कर ऐहिक वासना को ही उद्दीप्त नहीं करता वरन् निरंतर ही उसमें दिव्य पवित्रता का भाव ऐसे प्रभाव-पूर्ण ढंग से आभासित होता रहता है कि पाठकों और श्रोताओं पर उस समस्त शृंगार और प्रेम के पढ़ने और सुनने पर भी उर्दू की आशिक-माशूकाना शायरी का सा कोई अन्यथा प्रभाव नहीं पड़ता। भक्ति में श्रद्धा और विश्वास दोनों को आधार-रूप में माना गया है, इस प्रकार सूफी प्रेम की अपेक्षा भारतीय भक्ति-प्रेम अधिक गुरुतर, पवित्र और महत्वपूर्ण हो गया है। प्रीति के विविध रुचिर रूपों की रंजना-व्यंजना के कारण इसमें और भी अधिक आकर्षक शक्ति आ गई है। यह इतना मनोरंजक और मोहक हो गया है कि मुसलमान शायर भी इसकी चमत्कार-चारुता की सराहना करते हुए इसकी ओर समाकृष्ट हो आये हैं।

सूरदास में इन सब दशाओं और विशेषताओं के प्रभावानुभव से पूरा लाभ उठाया है। वास्तव में यह स्वामी वल्लभाचार्य जी की कृपा ही थी कि सूरदास को अपने कृष्ण-काव्य में ऐसी चिरस्थायी और सर्वथा सराहनीय सहायता और सफलता मिली है। सूरदास के काव्य को स्थूल रूप में इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं (१) भाव-पक्ष-प्रधान (२) कला-पक्ष-प्रधान (३) कौतुक-कौशल-प्रधान। इन तीनों ही विभागों में कृष्ण का कमनीय कीर्त्ति-कीर्तन तो है किन्तु दृष्टि-कोण का भेद है। सूरदास ने इस बात का पूरा ध्यान रक्खा है कि उनका काव्य किसी समुदाय विशेष के लिये ही न रहे। अतएव

इसमें मनुष्य की तीनों मुख्य मनोवृत्तियों की यथेष्ट संतुष्टि के लिये कमनीय कौशल के साथ सफल प्रयास किया गया है। मानव मनोवृत्तियों में से प्रधान मनोवृत्ति जिज्ञासा की है, जिसे गूढ़, गहन और गम्भीर वस्तु के जानने और प्रकट करने में आनन्द मिलता है, दूसरी मनोवृत्ति है भावना की, जिससे मनुष्य को रागात्मक वस्तुओं में सुख-संतोष प्राप्त होता है और तीसरी वृत्ति है कुतूहल-प्रियता की, जिसके कारण मानव-प्रकृति कौतुक-कुतूहल में लीन हो कर प्रसन्न होती है। सारे काव्य में इन तीनों ही वृत्तियों के संतुष्ट करने का प्रयास प्राचीन काल से ही होता चला आया है। सूर ने भी स्पष्ट रूप से इन्हीं तीनों प्रमुख मानव-मनोवृत्तियों का विचार रख इनके पूर्ण परिपोषक पद सुन्दर सफलता के साथ लिखे हैं।

सूर का कृष्ण-काव्य अपने शैली-सौष्ठव और अपनी भक्ति भावुकतामयी स्वाभिकता, सरसता और स्पष्टता के ही कारण विशेष व्यापक, समादरणीय और सराहनीय नहीं वरन् उसकी रुचिरता और रोचकता विशेष रूप से इस कारण अधिक है कि सूर ने कृष्ण-जीवन के वे रुचिर रूप लिये हैं, जिनमें स्वाभाविक सरलता, सरसता और हृदयता है और जिनका सम्बन्ध व्यापक मानवीय मनोवृत्तियों और प्राकृतिक दशाओं से है। इनके कृष्ण-काव्य में इसीलिये भगवान कृष्ण की बाल-लीला और उनके नेही-नायक-रूप सम्बन्धी स्नेह-लीला का ही विशद वर्णन है।

सूर-काव्य का विषय-विभाजन

सूर के काव्य में दो मुख्य विचार धारायें हैं, एक तो है *उपासना-पारीक* अथवा *भक्ति-सम्बन्धी* और दूसरी धारा है:—*ज्ञान पारीक*। हाँ, विशेषता बहुत-कुछ उपासनात्मक भाव-पक्ष को ही दी गयी है।

इनके काव्य में कर्म-पारीक विचार-धारा का कोई विशेष स्थान नहीं, यद्यपि कृष्ण के अद्भुत और लोकेतर कार्यों का भी उल्लेख किया गया है, क्योंकि भक्ति के क्षेत्र में कर्म का कोई भी अधिक प्राधान्य नहीं रहता, भक्त का कर्म तो केवल भक्ति करना ही है, अतएव उससे सम्बन्ध रखने वाले वंदना-अर्चन आदि कर्म अवश्यमेव उसके कार्य होते हैं किन्तु आत्म-समर्पण के साथ ही सारे कर्म उससे पृथक या परे हो जाते हैं और भगवत्-सम्बन्धी ही हो जाते हैं। भक्त अपने सारे कार्य भगवान के ही लिये करके उन्हें भगवान को ही अर्पित कर देता है, और आप निष्काम कर्म-कर्ता हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भक्त अकर्मण्य हो जाता है वरन् तात्पर्य यह है कि वह जो भी कर्म करता है उसे अपने लिये न कर हरि के लिये ही करता है और उस कर्म के विपाक या फल की कोई भी आकांक्षा नहीं रखता। इसी निष्काम कर्म के लिये भगवान श्रीकृष्ण का गीता में उपदेश भी है। इसीलिये यदि सूरदास ने लिखा है कि शरीर और उसके अंगों का कार्य केवल भगवत् सम्बन्धी सेवा-कर्म ही है अर्थात् नेत्रों का कार्य भगवान भूतभावन की मूर्ति का देखना, कानों का कार्य प्रभु-गुण-श्रवण करना, रसना का भगवत्-लीला का कीर्तन करना, प्रभु पद-सेवन हाथों का और पदों का कार्य वृन्दावन में जाकर वहाँ हरि के लीला-स्थलों में विचरण करना ही है। इन्हीं में अंगों का साफल्य है।

सोई रसना जो हरि-गुन गावै।
नैननि की छवि यहै चतुरता, जो मुकुन्द दरसन-हित धावै।
निरमल चित सो सोई साँचो कृष्ण-बिना जिहि अवरु न भावै।
स्रवनन की जु यहै अधिकाई हरि-जस-रस नित स्रवननि प्यावै।
कर तेई जु स्याम को सेवैं, चरननि चलि वृन्दावन जावै।
सूरदास है बलि बलि ताकी, जो सन्तन सों प्रीति बढ़ावै।

× × ×

इसलिये यहाँ सूर के उपासनात्मक और ज्ञानात्मक अंशों का ही संक्षिप्त और मार्मिक विवेचन किया जायगा। उपासनात्मक भाग में एक सुन्दर अंश वह है, जिसमें सूरदास अपनी ओर से श्रीकृष्ण-कीर्ति-कीर्तन करते हुए अपनी विनम्रतामयी विनय करते हैं। यह भाग उनकी विनय का भाग है। इसी के साथ दूसरा भाग वह है, जिसमें भगवान की अर्चना-वन्दना-आरती आदि उपासना की विविध विधियों का मार्मिक वर्णन किया गया है, इसी के आधार पर एक परम्परा विशेष भी चली, जिसे *अष्टयाम* कहा गया है और जिसमें आठों यामों अथवा प्रहरों में की जाने वाली उपासनाओं का यथाक्रम वर्णन किया जाता है, अर्थात् प्रातःकाल भगवान के निंद्रा से प्रभाती और भैरवी के द्वारा जगाये जाने से लेकर स्नान-पूजन-आरती या नैवेद्य या बाल-भोग आदि के पश्चात् रात्रि में शयन करने तक का वर्णन यथा विधि किया जाता है। इसी के साथ भक्ति-भाव-सम्बन्धी अन्य पद भी लिये जा सकते हैं।

यदि कहना चाहें तो भगवान की ललिताद्भुत लीलाओं या अलौकिक कर्मों से सम्बन्ध रखने वाले पद भी इसी भाग में आते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि लीला, कर्म, कार्य तथा चरित्र, घटना में बहुत विशेष अन्तर है। रास आदि तो भगवान की लीलायें हैं, किन्तु असुरों के वध जैसे लोक-हितकारी कार्य उनके अलौकिक कर्म हैं और इन्द्र-प्रकोप-कृत महावृष्ठि-निवारण जैसे प्रसंग घटनायें हैं। इस प्रकार भगवान के विविध नाम भी इन्हीं के आधार पर रक्खे गये हैं—जैसे, रसिक-राज, गिरिधर, बंशीधर, कंसारि, मुरारि, गोपेश, व्रजेश आदि।

सूरदास के काव्य में उक्त सब विशेषतायें सुन्दरता से उपस्थित हैं। इनके वर्णन में भगवन के शील, शक्ति और सौंदर्य का सुन्दर स्वरूप चातुरी से चित्रित किया गया है। हरि-लीला के भाग में भग-

वान के चराराकर्षक, मनोमोहक, मंजुमृदुल मोहन सौंदर्य के चारु चित्रण और जन-मन-विमुग्ध कारक वेणु-वादनादि के वर्णन भी आते हैं। इसी प्रकार होलिकोत्सवादि के वर्णन, झूला-वर्णन आदि कौतुक-कार्यों के ही अंतर्गत हैं। कहना चाहिये कि कृष्ण-काव्य में लीला-काव्य को ही विशेष महत्व दिया गया है। घटनात्मक और कर्मात्मक भाग में ज्ञान का दो रूपों में वर्णन किया गया है, प्रथम रूप तो वहाँ मिलता है जहाँ सूर ने इस संसार और मानव-शरीर की असारता को दिखलाते हुए इनसे सर्वथा विरक्त रहकर भगवन में पूर्ण भक्ति और अनुरक्ति के रखने को पूर्ण प्रधानता दी गयी है। उस भाग में उन लोकानुभूत अटल तथ्यों का गाढ़े रङ्गों से चित्रण किया गया है, जो सार्वभौम और शाश्वत स्वयं सिद्ध सत्य है, जिन्हें जानता हुआ भी मनुष्य नहीं जानता और समझता हुआ भी नहीं समझता। दूसरा भाग ज्ञान का वह मुख्य अङ्ग है, जहाँ उद्धव के द्वारा वेदान्त के अद्वैतवाद के ब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाले गूढ़ विचारों और योग के प्रयोगात्मक सिद्धान्तों के रहस्यों का सांकेतिक कथन किया गया है। यह अंश अधिक मात्रा में नहीं वरन् इसकी अपेक्षा भक्ति के मर्म का बोध कराने के लिये उसके मार्मिक भावों के निरूपण को ही प्रधानता दी गयी है। इस भाग को भ्रमर-गीत कहते हैं। इसी में लोक-प्रसिद्ध उद्धव-गोपी-संवाद है, तथा ऐसे ही अन्य अंश या स्थल प्रमुख हैं।

यह भाग बहुत-कुछ गम्भीरता और गूढ़ता के साथ रक्खा गया है। इसी प्रकार भगवान के विशेष गुणों का कथन करते हुए भी ज्ञान का आभास सुचारूता से दिया गया है। इन्हीं भागों में श्री० वल्लभाचार्य की आध्यात्मिक विचार-धारा का अच्छा प्रतिपादन काव्य-कला-कौशल के साथ मिलता है। मानव-जीवन के चार मुख्य उद्देश्यों-अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष में से धर्म और काम को विशेष रूप से सूरदास ने अपने काव्य में स्थान दिया है। भक्ति के क्षेत्र में मोक्ष के लिए

प्रायः कोई विशेष स्थान नहीं रहता। भावुक भगवद्-भक्त मोक्ष की कामना कदापि नहीं रखते, यही बात अर्थ अथवा धन के सम्बन्ध में भी कही गयी है। तुलसीदास ने तो इन चारों में से किसी को भी वास्तविक जीवनोद्देश्य के रूप में नहीं दखलाया। किन्तु सूर की रचचा से यह अवश्यमेव ध्वनित होता है कि उन्होंने इस उद्देश्य चतुष्ठय में से दो का विचार रक्खा है। अपने उपासना-भाग में तो धर्म का और गोपी-कृष्ण-सम्बन्धी विविध ललित लीलाओं में काम का विचार है। यद्यपि लौकिक दृष्टि से काम के प्रति वे वैमुखीवृति के रखने की ही आवश्यकता व्यंजित करायी गयी है। यद्यपि विशेष स्पष्ट ढंग से सूर ने धर्म और काम के लिये भी कोई विशेष कथन कहीं नहीं किया, हाँ उक्त प्रसङ्गों से इनकी ध्वनि अवश्यमेव प्राप्त होती है।

सूर के कृष्ण-काव्य में केवल वल्लाभाँचार्य की साप्रादायिक भक्ति की जिसे सख्यभाव की भक्ति कहते हैं, रुचिर रंजकता ही नहीं है, वरन् अन्य सभी प्रमुख भावों के आधार पर की जाने वाली भक्ति की की भी रमणीयता का यथावश्यकता वर्णन स्थान स्थान पर किया गया है।

अर्थात् वात्सल्य, दाम्पत्य, वान्धव, दास्य, सख्य और शत्रु भाव के साथ ही सखी भाव की भक्ति की भी सुन्दर झलक सूर की रचना में मिलती है। इसी प्रकार कृष्ण के बाल, शैशव, कुमार, किशोर और तरुण रूप सेव्य और उपास्य माने जाकर चारुता से चित्रित किये गये हैं। यद्यपि समस्त काव्य-कृष्ण भगवान की लोक-लीला का ही लालित्य दिखलाता है किन्तु स्थान स्थान पर उनके लौकिक कार्यों या उनकी लोक-लीलाओं का मनोरंजक तथा भाव-व्यंजक वर्णन करते हुए सूरदास यह स्पष्ट रूप में सूचित कर देते हैं कि यह हरि की केवल लोक-लीला ही नहीं है वरन् इसमें गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है, और इसके कर्त्ता लोक-सेव्य भगवान भूतभावन हरि या ब्रह्म ही

हैं, जो नर-रूप में अवतीर्ण हुए हैं। इसके साथ ही उनके पदों से य ध्वनि भी मिलती है कि भगवान यहाँ लोक-हिताय ही आये हैं औ भूत-भावन भगवान के अवतीर्ण होने का कारण भक्त-भव-भा भंजन ही है। गीता के अनुसार साधु-जन-परित्राण, दुष्कृत-विना: और धर्म-संस्थापन को भी हरि के अवतार का कारण कहा गया है यद्यपि गीता-गत कृष्ण के कथन से यह अवतार-कारण स्पष्ट ही तथापि भक्ति-मार्गानुसार इन कारणों के साथ विशेष बल दि गया है भक्त-हित को ही, यह बात केवल भक्ति-प्रेम भावना और भक्त भगवान के महत्व को सूचित करने के लिये ही कही गयी है।

सूर कृष्ण-काव्य में विशेष प्राबल्य है भगवान विष्णु अनुग्रह, विमोहन प्रेम, गर्व-नाशन जैसे गुणों का, उनके लोक-रक्षण उनकी शक्ति तथा उनके शील जैसे गुणों को महत्व के साथ दिखाय तो गया है किन्तु उतनी अधिक प्रधानता और प्रबलता के साथ नहीं यह ठीक है कि कुछ स्थानों में भगवन के परम शक्ति-सम्पन्न विरा रूप का भी उल्लेख किया गया है।

री, लखु जसुमति ! तेरो ढोठो अबहीं माटी खाई।
यह सुनि करिरिसि उठि धाई अरु बाँह पकरि लै आई।
इक कर सौं भुज गहि गाढ़े करि, इक कर लीने साँटी।
मारति हौं तोहिं अबहिं कन्हैया, बेगि उगिल नतु माटी।
ब्रज - लरिका सब तेरे आगे झूठी कहत बनाई।
मेरे कहें तू मानति नाहीं दिखरावौ मुख नाहीं।
अखिल ब्रह्मंड-खंड की महिमा दिखराई मुख माँहीं।
सिंधु, सुमेरू, महीं, परबत लखि चकित भई मन माँहीं।
कर तें सांटि सिरतनहिं जानी भुजा छाहुं अकुलानी।
'सूर' कह्यो जसुमति, मुख मूँदौ बलि गइ सारँगपानी।

× × ×

मोहन काहे न उगिलौ माटी।
बदन पसारि दिखाइ आपने नाटक की परिपाटी।

× × ×

मथत दधि मथनी टेकि खरयौ।
आरि करत मटुकी गहि मोहन बासुकि समुझि डरयौ।
मंदर, दुग्ध सिंधु फनि काँपत फिरि जनि मथन करै।
मलय हाय जानि गहो मथान विधिपर नाद ररै।
सुरआरिकर ठाढे -सब चितवत नैननि नीर ढरै।
'सूरदास' प्रभु मुग्ध जसोदा मुख दधि-विंदु गिरै।

× × ×

जब प्रभु निज कर गही मथानी.........इत्यादि

यों सूर के काव्य-विषय का संकेत देकर आगे बढ़ते हैं।

———

प्रकृति-चित्रण

हिन्दी के अन्य कवियों की भाँति सूरदास ने अपने काव्य में प्रकृति-चित्रण की परम्परा का यथेष्ठ पालन नहीं किया, उनका क्षेत्र मानव-प्रकृति में रहा था, वाह्य प्रकृति के क्षेत्र में तो वे विशेषतया प्रवृष्ट ही नहीं हुए। सम्भवतः इसका कारण यह प्रतीत होता है कि वस्तुतः प्रकृति से उन्हें कोई प्रयोजन ही नहीं, वे प्रयोजन रखते हैं, प्रकृति-पति के साथ ही, जब सर्वत्र वही प्रकृति-कृति-कर्ता, भव-भर्ता ईश्वर या ब्रह्म ही विभु होकर विराजमान है, और उससे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, तब प्रकृति अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही कहाँ रखती या रख सकती है। इस विचार से जब प्रकृति है ही नहीं अथवा यदि है भी तो केवल भ्रमाभास-रूप में ही है, तब स्वतन्त्र सत्ता के रूप में वर्णन हो तो किस वस्तु का हो। दूसरा कारण यह जान पड़ता है कि हरि की जिन ललिताद्भुत् लीलाओं का व्यंजक-रंजक वर्णन सूर को करना अभीष्ट है, उनमें वाह्य जड़ प्रकृति का कोई भी विशेष स्थान और महत्व नहीं, हाँ यह ठीक है कि प्रकृति का वर्णन फिर भी छाया-रूप से इनमें अवश्यमेव हो सकता था और विशेषतया ऐसे प्रसंगों में, जैसे गो-बर्धन, गो-चारण के समय वन-वर्णन। यमुना तथा यमुना के रम्य तट के वर्णनों में प्राकृतिक छवि-छटा का चारु चित्रण हो सकता था, और अच्छा हो सकता था, किन्तु चूँकि सूरदास मुक्तक रूप से ऐसा गीत-काव्य ही लिख रहे थे जिसमें वर्णन की विशेष प्रधानता न होकर प्रधानता होती है भावना-चित्रण की, और जिसमें मानव-भावनायें संक्षिप्त किन्तु मार्मिक रूप में किसी घटित घटना से उठाई जाती हैं, और उनके द्वारा मानव-हृदय को सर्वथा रस-संसिक्त करने का ही विशेष प्रयत्न किया जाता है, इसलिये प्रकृति-वर्णन

मुक्तक काव्य में विशेष स्थान नहीं पा सकता। यदि भव-प्रकृति-वर्णन वे करते तो कृष्ण-काव्य के द्वारा कदाचित जनता पर अभीष्ट प्रभाव डालने के उद्देश्य के साथ वह पूरा न होता, इसलिये प्रकृति का केवल उतना ही आभास इस मुक्तक काव्य में दिया गया है, जितना नितान्तमेव आवश्यक और काव्य के मुख्य उद्देश्य का द्योतक है। भगवान की मुरली की मोहनी से प्रकृति के चराचर का मुग्ध होकर निश्चल सा रह जाना, वियोग-व्याकुल गोपिकाओं का लता-वृक्ष आदि को हरा-भरा देखकर अपनी भावनाओं के आधार पर उनके प्रति मर्म-स्पर्शी भाव-भावनावेष्टित मार्मिक कथन करना आदि ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें सूरदास ने प्रकृति का चित्रण उद्दीपन और आलम्बन दोनों रूपों में व्यंजकतामय मार्मिक भावों के साथ सुन्दर सांकेतिक रूप में किया है। प्रकृति को उन्होंने यथास्थान ईश्वरेच्छानुवर्तिनी सा ही प्रकट किया है—वह प्रभु की अनुचरी और सहयोगिनी होकर सहायिका सी ही रहती और कार्य करती है।

कहना न होगा कि सूरदास की रचना गार्हस्थ्य और समाजिक जीवन के केवल ऐसे भाग से ही विशेष सम्बन्ध रखती है जिस पर समाज की सत्यापर स्वभावेतर समस्याओं की जटिल जालिकाओं का प्रभाव ही नहीं है वरन् जिसका सम्बन्ध केवल आमोद-प्रमोद और मनोरंजन से ही अधिक है। उनके कृष्ण-काव्य में गार्हस्थ जीवन का कोई भी ऐसा चित्र नहीं, जिसमें किसी प्रकार की भी भीषण विभीषिका और अनिष्ट चिन्ताकुलता आदि का कोई भी विशेष भाग-विभाग या अंश नहीं है। सूर की रम्य रचना में गार्हस्थ्य जीवन वस्तुतः सब प्रकार सामाजिक सुखद स्वतंत्रता, सम्पन्नता और समृद्धता के कारण केवल सुखानुभूति की ही ओर प्रगतिमान है। इसी प्रकार उसमें चित्रित समाजिक जीवन के भीतर पारस्परिक राग-द्वेष और तज्जन्य

चिन्ता, दोषाक्षेप, वैमनस्य आदि का कहीं भी कोई प्रपंच रंचमात्र भी नहीं है ।

ब्रज का सारा गोप-समाज इस प्रकार साधारणतया सर्वथा संतति-संपति-सम्पन्न और अदुष्ट पुष्ट-संतुष्ट है । इस सारे समाज में किसी को भी कहीं किसी विशेष ऐहिक सुख-सामग्री आदि की लालसा या आकांक्षा कदापि नहीं है । आबालवृद्ध सभी व्यक्ति सभी प्रकार की साधारण सांसारिक सुख-सामग्री के साथ संतुष्ट हो, कमनीय दिव्य सुख-रस से पुष्ट हो रहे हैं । इसी से उनमें आत्म-संतोष का अक्षय अदोष कोष है । कोई विशेष ऐहिक जीवन की कठिनाई इस ब्रजवासी गोप-समाज के सामने है ही नहीं, हाँ कुछ थोड़ी सी राजनीतिक कठि-नाइयाँ अवश्यमेव उपस्थित हैं, किन्तु उनका कोई भी विशेष भाव-प्रभाव इस गेय गोप-समाज के किसी भी व्यक्ति पर नहीं है ।

इसीलिये समस्त गोपी-गोप-वृन्द अपने जगत-जीवन के समस्त आवश्यक कर्त्तव्य-कर्म करते हुए आमोद-प्रमोद में ही मस्त सा रहता है । ग्वाल-बाल भी ऐसे सुखद समय और समाज में बाल्य कालीन स्वाभाविक स्वतंत्रता और प्रसन्नता का पूरा सुखानुभव करते हैं । अपने उद्देश्यानुसार सूरदास ने इस गोप-समाज का भी कोई विशेष चित्र-चित्रण नहीं किया, जो भी चित्रण किया है वह भगवान भूतभावन श्रीकृष्ण जी से ही सर्वथा सीधा सम्बन्ध रखता है, और विशेषतया सुखद, सरस, स्वाभाविक या प्राकृतिक जीवन के ही रुचिर रूप में है । अनुरंजक नागरिक जीवन का अनेक गाढ़े रंगों से रंजित रुचि-रोचक चित्र प्रायः शून्य सा ही है । गोप-समाज की अपेक्षा सूर-काव्य में गोपी-समाज के सरस वर्णन की ही विशेषता, प्रचुरता और प्रबलता है । ब्रज का समस्त सहृदय गोप-समाज केन्द्रित है श्रीकृष्ण में ही, क्योंकि वस्तुतः सिद्धान्तानुसार भगवान कृष्ण ही महा माया-पति और विशद विश्व के एक मात्र केन्द्र हैं । ब्रज-समाज की सम्पन्नता को

प्रकट करते हुए सूरदास ने कई स्थलों पर ब्रज के मणि-खचित, कंचन-रचित सुखद सद्मों और हीरक-जटित पाटल-पटित प्रांगणों आदि का विशद वैभवशाली वर्णन किया है। श्री नन्द-निकेत तो ऋद्धियों और सिद्धियों से समाकुल हो सर्वथा समृद्ध ही है। ऐसी सुखद सम्पन्न-स्थिति को दिखलाते हुए भी सूरदास ने ऐसा वर्णन भी किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि नन्द का आनन्द-निकेतन एक बहुत साधारण सी ही स्थिति का घर है, इसी प्रसंग में उन्होंने यहाँ तक लिखा है कि कृष्ण अपने श्री-मुख से खूब पकी हुई मोटी रोटी और मक्खन माँगते हैं, हाँ मेवों और पकवानों का भी वहीं कुछ उल्लेख भी किया है।

मोहन माँगत माखन-रोटी।
कहत गोपाल देहि मेरी मइया सुपक, सुकोमल मोटी।

× × × ×

यह स्मरणीय है कि सूर ने ही ऐसा नहीं किया, वरन् इस परम्परा का अनुकरण करते हुए अन्य कवियों ने भी बाल-कृष्ण के हाथ में साधारणतया माखन-रोटी ही रक्खी है। नन्द जैसे सर्व सुख-समृद्धि-सम्पन्न धनी-मानी के मणि-कंचन रचित रुचिर सदन में कृष्ण जैसे अनूप रूप के प्रियबालक के हाथों में मालपुआ-पूरी आदि उच्च श्रेणी के सुखद स्वादिष्ट, सरस पदार्थ रखाये जा सकते थे किन्तु ऐसा नहीं किया गया, सम्भवतः इसमें कोई विशेष रोचक रहस्य है। कृष्ण के हाथ से एक कौवा रोटी ले जाता है—"काग को भाग कहाँ लौं कहौं हरि-हाथ सौं लै गयो माखन-रोटी—रस०"। इसमें भी एक विशेष मर्म की बात छिपी है। काग यहाँ सिद्ध-प्रसिद्ध हरि-भक्ति-भाजन काग-भुसुन्ड का प्रतीक है और काग-भुसुन्ड भगवान के अनन्य धन्य भक्त-भूषणों में से मुख्य है। इसी लिये वे अन्य भावुक भक्त से अधिक प्रिय भी भगवान को हैं। भगवान के ही हाथों से, उनकी प्रसन्नता

देख, वे माखन-रोटी भी ले लेते हैं और इसमें अपना परम सुठि सौभाग्य मानते हैं। वास्तव में यह उनके लिये ही क्या सभी भावुक भक्तों के लिये अमित सौभाग्य की बात है। प्रमुदित होकर भक्त-वत्सल भगवान अपना प्रशस्त पावन प्रसाद अपने हाथों से ही उन्हें देते हैं, और भूरि भव्य भाव के साथ। खगनायक जैसे अनन्य भूरिभाग्य-भाजन, लोकधन्य भक्त ही इसके सच्चे पूर्णाधिकारी हैं और हो सकते हैं। यह उनका वस्तुतः अतिशय बड़भाग्य है।

इसी प्रसंग में यह भी कहना अनुपयुक्त न होगा कि भगवान श्री कृष्ण को नवनीत या मक्खन ही परम प्रिय रहा है। इसके लिये वे अन्य गोपिकाओं के यहाँ चोरी भी करते हैं और यथावसर उनसे हठपूर्वक माँगकर भी लेते हैं, और कभी कभी अपहरण भी करते हैं। दही तो वे प्रायः अपने सखाओं को बाँट देते अथवा इतस्ततः सर्वतः बिखेर देते हैं, दूध या पय भी वे ही नहीं लेते, बाल्यकाल से ही दूध के पीने में वे अपनी अनिच्छा सी प्रगट करते हैं, और यशोदा जी के बहुत फुसलाने या बहलाने और मनाने पर ही थोड़ा सा पीते हैं, वह भी एक विशेष लालच के कारण, सूर ने इसी आशय से लिखा है:—

"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी
दूध पियत मोंहि बड़ी बेर भई या अजहूँ है छोटी।
काचो दूध पियावति पचि पचि देति न माखन-रोटी।

× × × ×

यद्यपि दूध मनुष्य का स्वाभाविक और जन्म का भोज्य या पेय पदार्थ है—तथा आयुर्वेदानुसार तत्काल बलकारक भी है :—

"सद्यः बल-हारा नारी सद्यः-बलकरम् पयः।"

इसी प्रकार तक्र या मठा भी मनुष्य के लिये अमृत सा हित-कारक कहा गया है। "यथा सुराणाममृतं प्रधानम् तथा नाराणाम् भुवि

तक्रमाहुः——फिर भी इनको किसी प्रकार विशेषता न देकर विशेषता देते हैं भगवान कृष्ण नवनीत या मक्खन को ही। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि मक्खन गो-रस अथवा-पय-पीयूष का महत्वमय सार तत्व है। पय या दूध स्वाभाविक और जन्म से ही मानव-भोजन है और तत्काल बल देने वाला सार्थ पौष्टिक पदार्थ है, उसका भी सार है नवनीत, उसी नवनीत को श्रीकृष्ण प्रसन्नता से ग्रहण करते हैं। अर्थात् शक्ति का सार ही उन्हें इष्ट है, अथवा यों कहें कि गो-रस से अन्य तात्पर्य है ऐन्द्रिक रस से अथवा सुख का सार भूत परमपूत तत्व प्रेम से है, वह सर्वथा समुज्वल-सुखद, स्निग्ध, मधुर तथा तन-मन को स्फूर्ति-पूर्ति और शक्ति देने वाला है। मस्तिष्क और हृदय दोनों को सर्वथा सबल बनाता है और प्रतीक-रूप में प्रेम को सूचित करता है। दही प्रतीक-रूप में विवेक का सूचक है, इसी के विलोडन अथवा श्रम-मय मंथन से अन्त में स्निग्ध नवनीत रूपी प्रेम प्राप्त होता है। सूरदास ने भी इसका सुन्दर वर्णन किया है और प्रायः इसी विचार को व्यंजकता के साथ सामने रखते हुये।

सूर के काव्य में लोक-पक्ष और परलोक-पक्ष दोनों का बहुत ही सुंदर सामंजस्य किया गया है और भगवान की लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रकार की ललित लीलायें बड़ी ही सराहनीय सुन्दरता से गम्भीर व्यंजना और रस-रंजना के साथ कही गयी हैं। विशेषता इन हरि-लीलाओं में यह है कि भगवान की अलौकिक शक्ति का अनुभव करते हुये भी ब्रज के सभी स्त्री-पुरुष भगवान को सदैव भगवान के रूप में ही नहीं देखते, वस्तुतः उनका ईश्वरत्व प्रगट होकर भी गुप्त ही रहता है। उनकी प्रत्येक लीला में उक्त दोनों पक्षों का स्तुत्य सुंदर समीचीन समावेश है अर्थात् लौकिकता में अलौकिकता का पूरा प्रकाश-बिम्ब-प्रतिबिम्ब पाया जाता है। सूफी फकीरों ने भी लौकिकता से अलौकिकता की ओर चलने का पूरा प्रयत्न किया

है, किन्तु जिस ढंग से उन्होंने लौकिकता के भीतर अलौकिकता का रूप रक्खा है, वह ढंग ऐसा है कि उससे दोनों के एकीकरण का स्वरूप बहुत-कुछ दुर्बोध और जटिल हो गया है। दोनों का सहज समन्वय और सामंजस्य नहीं हो पाया। सूरदास ने उनकी अपेक्षा दोनों के एकीकरण को इस चारु चातुर्य्य और मंजु माधुर्य के साथ प्रगट किया है कि कहीं कोई भी विशेष कठिनाई कदापि उसके समझने में किसी भी सुपाठक को नहीं होती। हाँ यह ठीक है कि प्रायः इस प्रणाली के न जानने वालों को अवश्मेव पहले इस रम्य रहस्य के समझने में किंचित कठिनाई होती है और वे इस बात के स्वीकार करने में तनिक हिचकते से हैं कि लौकिक चित्रण के अन्तर्गत अलौकिक चित्रण भी सर्वत्र बराबर चलता जा रहा है। यदि उन्हें इस मर्म को दिखलाया या समझाया भी जाय तो यह कहते हुये वे उसे स्वीकार नहीं करते कि सूरदास ने बड़ी स्वाभाविकता से लौकिक चित्रण को ही अपने काव्य में प्रधानतया रक्खा है, उन्होंने ऐसे अलौकिक रहस्य के गूढ़ता और जटिल गम्भीरता से व्यंजित करने का विचार भी न किया था। ऐसे लोगों से हमारा नम्र निवेदन है कि वे यह समझ लें कि जिस भगवान का कीर्तन किया जा रहा है वह अलौकिक होता हुआ भी लौकिक है, लौकिक होता हुआ भी अलौकिक है, लोकालोक का आलोक वही प्रभु है जो निर्गुण होकर भी सत्य सगुण है, निराकार होकर भी साकार है। इसलिये उसके सम्बन्ध में कभी जो कुछ भी कथन कहीं होगा, उसमें अवश्यमेव द्वयार्थक गूढ़ता रहेगी, उसके लीलामय जीवन में लौकिक और अलौकिक दोनों ही पक्षों का सदैव समावेश रहेगा। इसी विचार से ऐसी भाव-व्यंजक रचना-शैली को भक्ति-काव्य में प्रधानता दी गयी है और दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर सर्वत्र भक्ति-भूषित काव्य में ऐसे द्वयार्थ-व्यंजक शब्दों का प्रयोग किया गया है जो इस उद्देश्य की निरंतर ही पूर्ति कर सकते हैं। ऐसे व्यंजक

शब्दों के प्रयोग की परिपाटी ही प्रारम्भ से इस काव्य में चलायी गयी थी। इसलिये उस परिपाटी से परिचय प्राप्त कर लेने पर कवियों को रचना करने और सहृदय पाठकों तथा सरस श्रोताओं को उसके समझने में कोई भी विशेष कठिनाई कदापि कहीं नहीं होती। यही कारण है कि भक्ति-काव्य के उन स्थलों को भी सुन या पढ़ कर, जिनमें लौकिकता का एक अवांच्छनीय रूप सा चित्रित मिलता है और रस का, विशेषतया शृंगार रस का कुछ अन्यथा रूप सा दिखायी पड़ता है, भक्त जनों के मनों पर कोई भी अनीप्सित या अन्यथा अर्थ को अनर्थ-कारक दूषित प्रभाव नहीं पड़ता और न उनके शुद्ध हृदयों में किसी भी प्रकार कोई भी विकृत विकार ही उत्पन्न होता है, क्योंकि वे भक्ति-सम्प्रदाय में पहुँच कर प्रथम ही इस रचना-परिपाटी से पूर्णतया परिचित हो जाते हैं। इसलिये कह सकते हैं कि सूर का काव्य लौकिक और अलौकिक दोनों पक्षों को लेकर समन्वय के साथ चारुता से चलता है, यद्यपि इन पक्षों को पृथक पृथक नहीं रक्खा जा सकता।

सूर और भक्ति

काव्य के प्रयोजन की व्याख्या करते हुए प्राचीन काल के ग्रंथों में यह कहा गया है कि काव्य का प्रयोजन या उद्देश्य *अलौकिक आनन्द का* प्राप्त करना है। काव्य को इस अलौकिक आनन्द तक पहुँचा देना चाहिये, तभी वह काव्य कहा जा सकता है। यह भी कहा गया है कि काव्य जिस आनन्द को *पहुँच या* पहुँचा सकता है वह *ब्रह्मानन्द-सहोदर* है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि *काव्य का आनन्द* अलौकिक ब्रह्मानन्द-सहोदर होता हुआ *आत्मानन्द के ही रूप में रहता है* क्योंकि ब्रह्मानंद का सहोदर आत्मानन्द ही हो सकता है। ब्रह्मानन्द तक पहुँचाने की शक्ति काव्य में सर्वथैव नहीं है, वह शक्ति तो योग, और ज्ञान ही में है, अथवा यह भी माना गया है कि सगुण आत्मा को ब्रह्म के आनन्द-रूप में पहुँचा देने की

शक्ति भक्ति और शुद्ध प्रेम में भी है। काव्य तो केवल आत्मानन्द तक ही पहुँचा सकता है और वह भी उस भक्ति और ज्ञान की सहायता से, जो ब्रह्मानन्द के उच्च स्तर तक ले जाने में क्षम है, अर्थात् शुद्ध आत्मानन्द देने वाले काव्य में ज्ञानगम्य भक्ति-भाव ही का होना आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य ही है, अतः शुद्ध सात्विक पावन प्रेम से ही उसका परिपुष्ट होना भी अनिवार्य है। इसीलये तुलसीदास जैसे महात्माओं ने भगवच्चरित्र को ही काव्य का मुख्य विषय माना है, क्योंकि भगवान ही मंगल-मूर्ति और आनंदाकार है, उसके ही कीर्तन-स्मरणादि के द्वारा नित्यानन्द की प्राप्ति हो सकती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है कि—

"हृदय सिंधु, मति सीप समाना।
सारद स्वाती कहहिं सुजाना।
जो बरसै बर बारि बिचारू।
होंहि कबित मुकता-मनि चारु।

जुगति बेधि पुनि पोहिये, राम-चरित बर ताग।
पहिरहिं सजन बिमल उर, सोभा अति अनुराग। रा० च० मा०

× × × ×

अर्थात् हृदय में भावोद्भव से (भावना-पक्ष के साथ मति या बुद्धि-पक्ष को भी लेकर) काव्य का प्रारम्भ होता है, यदि सरस्वती या वाणी का मंजु माधुर्यमय सुधा-रस उसमें सर्वथा सन्निहित हो अर्थात् भाषा मधुर, मधु-रस-युक्त, हार्दिक भावनामय सुबुद्धि-समुद्भूत आर्य विचारों को व्यक्त करे और आनन्दानुभव को प्रगट करे तो मुक्ता-मणि रूपिणी कविता सम्पन्न हो सकती है। ऐसे कविता-रूपी मोती को युक्ति (कथन-चातुर्य अभिव्यंजन-पटुता या रचना-चातुरी) से बेधना चाहिये और रामचरित के सूत्र में पिरोना चाहिये, तब वह

सत्काव्य प्रकट हो सकता है जो केवल सज्जनों के निर्मल (अदूषित, शुद्ध) हृदय में धारण करने के योग्य होगा और जिससे उनमें शोभा (श्री या कांति या सौंदर्य) आयेगी और फल-स्वरूप उस अनुपम अनुराग की उद्दीप्ति होगी, जिससे आनन्द-स्वरूप ब्रह्म या परमात्मा की प्राप्ति होती है, क्योंकि जैसा वे अन्यत्र कहते हैं :—

मिलहिं न रघुपति बिन अनुरागा,
किये जोग-जप-जज्ञ-बिरागा।" रा० च० मा०

× × ×

साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि भक्ति और ज्ञान दोनों पृथक वस्तुयें नहीं हैं, दोनों में अभेदात्मक भेद का भाव है। इस प्रकार अब यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्ददायक काव्य में ज्ञान-गम्य तथा प्रेम-परिपुष्ट भगवद्-भक्ति का ही प्राधान्य और प्रचुर प्रावल्य होना चाहिये। ऐसा होने पर ही वह अपने प्रशस्त प्रयोजन के प्राप्त कराने में सफल हो कर चरितार्थ हो सकेगा और उसे अक्षयत्व या अमरत्व मिल सकेगा। ऐसा ही सत् काव्य देश-काल की संकीर्ण सीमा से सीमित न हो कर सार्वभौम और सर्वकालीन हो सकेगा, क्योंकि उसमें चिरंतन सत्य-स्वरूप-*रूप-शाश्वत* परमात्म तत्व का आधार भूत महत्वाभास सर्वथा समुपस्थित है। इसी के भाव-प्रभाव से उसमें आनन्ददायिनी शक्ति रह सकेगी।

काव्य और काव्य-शास्त्र के ऐतिहासिक विकास के देखने से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि दोनों शनैः शनैः अपने एक उच्चोत्कृष्ट आदर्श से नीचे गिरते चले आये और कुछ काल के उपरान्त काव्य का उद्देश्य आत्मानन्द से हटकर मानसिक आनंद या सुख के रूप में ही रह गया। इस मानसिक सुख के भी कई रूप हो गये, उनमें से प्रमुख रूप :—यश-अर्थ-व्यवहार, कल्याण आदि कहे गये हैं। *"काव्यं यशसे व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये"-मम्मट०।* वस्तुतः इस मानसिक सुख

के, यदि विचार-पूर्वक देखा जाये तो केवल दो रूप ही मुख्य हैं। एक तो उच्चकोटि का सात्विक सुख है और दूसरा उससे कुछ उतर कर निम्नश्रेणी का राजस और लौकिक सुख है। प्रथम प्रकार के सुख में शुद्ध हृदय की नव्य भव्य भावनाओं अथवा भावानुभूतियों और सुखद कमनीय कल्पनाओं का प्राधान्य रहता है, इसलिये इस प्रकार के सुख की प्राप्ति के लिये काव्य में भगवान के ही ललित लौकिक चारु चरित्रों या ललाम लीलाओं का प्रकाम सरसाभिराम समावेश किया जाता है और ऐसा करना ठीक भी है। इसमें आखिलादर्शरूप केवल ईश्वर की मंजु मूर्ति और सुख-स्फूर्तिमय उसके पवित्र चरित्र की पूर्ति सी रहती है। द्वितीय श्रेणी के राजस सुख के लिये काव्य में प्राकृत पुरुष-रत्नों या आदर्श नायकों का चरित्रांकन चारु चमत्कृत रंग-ढंग से किया जाता है और स्वाभाविक मानवोचित प्रभावपूर्ण अनुकरणीय नायकरूप के रम्य वर्णन को प्राधान्य दिया जाता है।

इसलिये इसमें ऐहिक रसों का लौकिक रूप में ही यथेष्ट परिपाक किया जाता है। इस प्रकार के सुख से भी निम्न श्रेणी का सुख केवल ऐन्द्रिक संतोष के रूप में होता है, इसीलिये वह एक प्रकार से तामसिक सुख के ही रूप में रहता है और इसीलिये उसमें गूढ़ ज्ञान-सम्बन्धी गहन और गम्भीर विचारों का प्राबल्य और प्राधान्य न होकर केवल सर्व साधारणोचित सांसारिक विचारों के ही साथ विश्वजनीन मानवीय भावनाओं को ही प्रधानता दी जाती है और ऐन्द्रिक संतुष्टि को ही पुष्टि देने का प्रयास किया जाता है। वास्तव में इस प्रकार का काव्य उच्चकोटि का सत्काव्य तो नहीं है, वरन् निम्न श्रेणी का असत्त काव्य ही सा है। इससे कला-कौशल-मूलक कोरी कल्पना की उन्नत और उत्कृष्ट उड़ान ही प्रायः प्रधान रूप में रहती है। इसी से यह विशेष स्थायी और व्यापक नहीं हो पाता है।

इन सब प्रकार के सुखों से पृथक् केवल मस्तिष्क को कुछ कौतुक-

कुतूहल और अस्थायी विनोदामोद या मनोरजंन देने वाला वह काव्य आता है, जिसमें शाब्दिक चारु चमत्कार और रचना-चातुर्य तथा वर्णों के विधान-वैचित्र्य का ही प्रायः विशेष प्राचुर्य और प्रावल्य रहता है। उक्ति-वैचित्र्य या वचन-वैलक्षण्य एक प्रकार से इसका प्राण ही है। इसलिये इस प्रकार का काव्य विशेषतया केवल आमोद-प्रमोद-कारक तो होता है किन्तु इससे अधिक यह किसी उच्चश्रेणी का सुख कदापि नहीं दे सकता। इसे मनोरंजन-काव्य की ही संज्ञा दी जा सकती है। इससे मनुष्य की विनोद प्रियता की मनोवृत्ति को ही संतुष्टि प्राप्त हो सकती है। मन की सभी वृत्तियाँ इसमें नहीं आ पातीं।

भक्ति-काव्य उसी उक्त प्राचीन काव्य-प्रभोजन को लेकर चलता है और दो मुख्य श्रेणियों में रक्खा जा सकता है। प्रथम श्रेणी का भक्ति-काव्य वह है जो शुद्ध लौकिक सात्विक सुख की सच्ची अनुभूति कराता है और भव्य भगवद्-भक्ति अथवा पुनीत प्रभु-प्रेमानुरक्ति पयोधि में चंचल मन को अचंचल कर मग्न कर देता है। द्वितीय श्रेणी का भक्ति-काव्य वह है जिसमें लौकिकता की लालित्य-मात्रा कुछ अधिक रहती है और जो केवल ऐहिक मानसिक सुख की काल्पनिक अनुभूति ही करा सकता है। इसमें भगवान के चारु चरित्र इस रूप में चित्रित किये जाते हैं कि उनमें मानवीय भावों और भावनाओं के स्वाभाविक सारस्य के साथ मनोवृतियों और तदनुभूतियों के रसास्वाद की प्रचुरता तथा प्रवलता रहती है और उनके अलौकिक रस-रङ्ग-रंजित रूपों को व्यंजित करने का कोई विशेष सफल प्रयत्न नहीं किया जाता।

कहना न होगा कि उन भक्त प्रवरों ने, जो किसी भक्ति-सम्प्रदाय विशेष से घनिष्ट सम्बन्ध या चिर सम्पर्क रखने के कारण तत्प्रतिपादित भक्ति-पद्धति से पूर्णतया परिचित थे, प्रायः प्रथम प्रकार के ही काव्य की विशेषतया रम्य रचना की है, उनके ऐसे काव्य को सत्काव्य कहा जा सकता है *और उसमें ही वस्तुतः स्थायित्व पाया जाता*

है। उसमें मानसिक सुख और रस-विलास का शुद्ध सात्विक स्वरूप मिलता है। द्वितीय श्रेणी का काव्य केवल परम्परा से परिचय रखने वाले ऐसे कवियों के द्वारा रचा गया है, जो किसी सम्प्रदाय विशेष से तो कोई विशेष सीधा सम्बन्ध न रखते थे, किन्तु उस सम्प्रदाय की विचार-धारा से परिचित अवश्यमेव थे। ऐसे कवियों के पश्चात् वे कवि आते हैं, जिन्होंने केवल यथा-शक्ति और यथा-साध्य स्वपूर्ववर्ती भक्त कविवरों का केवल अनुकरण मात्र ही किया है, वस्तुतः वे स्वपूर्ववर्ती भक्त कवियों की भक्ति-भाव-परंपरा से भी पूर्णतया परिचित न थे और इसीलिये केवल अनुकरण ही सा करते हैं और अपनी कुशल कल्पना के द्वारा जिन्होंने कुछ मौलिकता के विचार से ऐसा भी लिखा है, जो सिद्धान्त-सार्थकता की दृष्टि से तो बहुत-कुछ संतोषप्रद नहीं है किन्तु काव्य-कौशल की चारु चरितार्थता के लिये अवश्य अवलोकनीय है।

महात्मा कवियों की रचनाओं में सत्काव्य के प्रायः सभी मुख्य लक्षण सुन्दर रूपों में पाये जाते हैं, यद्यपि उनका-काव्य रचनोद्देश्य भगवद् भक्ति-निरूपण के रूप में ही रहता है। काव्य उनके द्वारा भगवद्-भक्ति-साधन का केवल एक सफल साधन सा ही बनाया जाता है और उसके द्वारा चंचल मन को शान्त कर लोक सीमा से ऊपर उठा कर शुद्ध सात्विक भव्य भाव-क्षेत्र में रखते हुये उच्चकोटि के सत् सुख की रसानुभूति कराई जाती है। इसी कारण ऐसे कवि-वरों की रम्य रचनाओं में विचार-गूढ़ता और भाव-गम्भीरता भी प्रायः अधिक रहती है। उनमें भक्ति-भावानुभूति के साथ ही भगवद्ज्ञान का भी सरस सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया जाता है, भावनावृत्ति और बोध-वृत्ति का इनमें सुन्दर समन्वय होता है। यही ऐसे काव्यों की गंभीरता और गूढ़ता का प्रमुख कारण होता है। इस प्रकार के समन्वय की सिद्धि के लिये इस काव्य में व्यंजना-पद्धति का ही अधिक उपयोग उपयुक्त

होता है। ऐसे काव्य के लिखने में कवि के लिये यह नितांत अनिवार्य ही सा होता है कि वह सर्वथा भावुक भक्त-हृदय रखता हो और साथ ही उसकी रसिकता में निर्विकल्पता, सात्विकता और शुद्धता या पुनीतता हो, जिससे वह विरस-सिकता में भी रसिकता को रमा-विरमा सके। इसी के साथ उसे भक्ति-प्रेम और आत्मा तथा परमात्मा से सम्बन्ध रखने वाले दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्यक् ज्ञान हो। भाषा और रचना-शैली पर भी उसका अच्छा अधिकार हो। न केवल काव्य और कवि-परम्परा से ही वह पूर्णतया परिचित हो वरन् रस-सिद्धान्त, अध्यात्मवाद, धर्म-कर्म, सौन्दर्य-सिद्धान्त, सामुद्रिक और आयुर्वेद आदि सभी प्रमुख शास्त्रों के सिद्धान्तों से भी उसे यथेष्ट परिचय प्राप्त हो। बिना शुद्ध हृदय *और निर्विकल्प ज्ञान* के ऐसे कमनीय काव्य की रचना सर्वथा सम्भव नहीं। रसभावानुभूति और ज्ञान-भावना और बुद्धि-प्रेम और विवेक का सुन्दर समानुपात ही इस काव्य-रस के लिये आवश्यक और अनिवार्य है। संतत स्वाध्याय, निदिध्यासन और सत्संग के साथ सात्विक आहार-विहार, आचार-व्यवहार और पूर्ण मनोयोग या प्रणिधान इस के लिये सर्वथा समापेक्षित हैं।

हिन्दी-क्षेत्र में इस भक्ति-काव्य का प्रचार और प्रसार दो विशेष प्रयोजनों या उद्देश्यों के साथ हुआ है। एक प्रयोजन तो है आत्म-सुख अथवा आत्म-हित और दूसरा है लोक-हित। प्रथम प्रयोजन दूसरे प्रयोजन की अपेक्षा अधिक प्रधान और प्रबल है। आत्मसुख के अन्तर्गत एक प्रकार से लोक-हित और लोक-सुख अथवा विश्व-सुख भी आ जाता है, क्योंकि आत्मा सब प्रकार अपने सत्य, शुद्ध रूप में होकर विभु अथवा व्यापक सा हो जाता है। अब यों कहना चाहिये कि वस्तुतः भक्ति-काव्य ही वह सत्काव्य है जो काव्य के इस मुख्य प्रयोजन की पूरी पूर्ति करता है। हिन्दी-भाषा का वस्तुतः यह सराहनीय सौभाग्य है कि उसमें ऐसा भक्ति-काव्य अपने सच्चे सुन्दर

स्वरूप में हो कर सर्वथा स्थायित्व और अमरत्व के साथ महात्मा कवि-वरों के कर-कमलों से निसृत होकर लोक के समक्ष समलंकृत होकर आ सका है।

उक्त विचार-धारा के आधार पर भव्य भगवद् भक्ति को यदि काव्य की अन्तरात्मा और पावन प्रभु-प्रेम को उसका प्राण या जीवन कहें तो कदाचित् कुछ अनुपयुक्त न होगा। वास्तव में भक्ति ही एक ऐसी साधना-विधि है जिसके द्वारा भक्त अपने भगवान के साथ अपना किसी प्रकार का भी अभीष्ट घनिष्ट सम्बन्ध (अंतरंग या वहिरंग) स्थापित करता हुआ अपनी भव्य-भावनानुभूति की सहायता से अपने को भूत-भावन भगवान के समीप पहुँचा सकता है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष नामक मानव जीवन के प्रशस्त प्रमुख उद्देश्यों में से कोई भी भक्ति के यथार्थ प्रयोजन के रूप में नहीं आता, यद्यपि है ये सभी जीवन के चरम लक्ष्य के रूप ही। वस्तुतः भक्ति का लक्ष्य या उद्देश्य न तो किसी लौकिक सुख, आनन्द या मनोरम मोक्ष का प्राप्त करना ही है और न अन्य ऐसी ही कामना की पूर्ति ही है वरन् इन दोनों ही से और आगे बढ़-चढ़ कर भक्ति-भूषित भक्त का एक मात्र मूल जीवनोद्देश्य वास्तव में भगवदोपासना ही का निरंतर नित्य नवोत्साह और नवोत्कंठा से करते रहना ही है। इसी विचार को गो० तुलसीदास ने यों व्यक्त किया है:—

"अरथ न धरम, न काम रुचि, पद न चहौं निरबान।
जनम जनम रघुवर-चरन, यह बरदान, न आन॥ रा० च० मा०

× × × ×

ज्ञान के द्वारा यदि ईश्वर की प्राप्ति कष्ट-साध्य अथवा दुस्साध्य और चिर साध्य है, यदि वह किसी प्रकार सर्वथा असाध्य नहीं, तो वह प्रभु-प्राप्ति भक्ति के द्वारा वैसी ही सरल-साध्य, सुख-साध्य और शीघ्र

साध्य हो जाती है। ज्ञान यदि बुद्धि-पक्ष और विवेकवलित भाव-क्षेत्र के रूप में है, तो भक्ति भावनाभूति के क्षेत्र के रूप में है। इस क्षेत्र में प्रवेश करने पर जड़ और चेतन, चर और अचर आदि का कोई भी भेद कदापि कहीं नहीं रह जाता। विशुद्ध प्रवुद्ध भावना के क्षेत्र में सभी कुछ केवल सरस, सुदृढ़, सच्ची और सुखद भावनानुभूति के ही आधार पर देखा, सुना और समझा जाता है। भावना के लिये मनोयोग के साथ ही साथ तन्मयता अथवा तल्लीनता का होना भी परम आवश्यक है। यदि तनिक विचार-पूर्वक देखा जाय तो यह तन्मयता या तल्लयता ही योगियों के योग-साध्य समाधि की परमोत्कृष्ट अनुपमानन्द की अवस्था है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि योगियों की तल्लीनता भावात्मक होकर विचार-जन्य ज्ञान-प्रधान और भक्तोंकी तल्लयता रागात्मक होकर भावना-प्रधान रहती है, हाँ विरागानुराग-परक दोनों ही हैं।

भक्ति-भावना के क्षेत्र में योगात्मक ध्यान धारणा-क्षेत्र के सर्वथा समान ही तन्मयता और तल्लीनता उस रूप में नहीं रहती, जिस रूप में आत्मा के परमात्मा में लय हो जाने की दशा में होती है, वरन् भक्ति के क्षेत्र में तल्लीनता तो रहती है अवश्य, किन्तु वह एक विशिष्ट रूप में ही रहती है। भावक भक्त अपने भगवान के ध्रुव ध्यान में अपने को निरंतर ही सब प्रकार अन्तरलय ही रखता तो है, और उसमें मग्न हो लीन-विलीन सा तो हो जाता है किन्तु अपने आत्मा के अस्तित्व को परमात्मा के अस्तित्व में सिन्धु-विन्दु-न्याय से सर्वथा निरवशेषता के साथ लय नहीं कर देता वरन् अपना स्वतंत्र अस्तित्व बराबर बनाये रखता हुआ भी भगवत्सान्निध्य, प्रभु-सामीप्य और ईश्वर-संयोग या सायुज्य का अनुपमातुल रसानन्द प्राप्त करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भक्ति का क्षेत्र विशुद्ध सद् ज्ञान के क्षेत्र की अपेक्षा अपना एक विशेष महा-महत्त्व रखता है।

ज्ञान के क्षेत्र में निवृत्ति अथवा विरक्ति अत्यन्त अनिवार्य है। इस विरक्ति के ही कारण एक ज्ञानी अपने को महा दुरत्यय माया मय नश्वर संसार से दूर हट कर सब प्रकार ब्रह्म में ही अपने को लीन-विलीन करता है, और विरक्ति को प्रधानता देता है। ब्रह्म में अपने को लीन कर देने पर फिर कोई भी और प्रश्न उसमें उठता ही नहीं। भक्ति के क्षेत्र में यद्यपि विरक्ति की आवश्यकता तो है अवश्य, तथापि उस रूप में नहीं, वरन् इस रूप में है कि भक्त संसार में रहता हुआ भी संसार से अपने को विरक्त सा ही रखता हुआ भगवान ही में अपनी पूरी हृदयानुरक्ति रखता है। इसलिये विरक्ति एक प्रकार से भक्तों के लिये अनुरक्ति का एक विशेष साधन ही है, विरक्ति ही भक्ति के क्षेत्र में अनुरक्ति हो जाती है।

इसी के साथ भक्ति के क्षेत्र में संसार से विरक्ति की भी योग-क्षेत्र के समान आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह समस्त संसार भगवान का केवल स्थूल स्वरूप ही है, और इस विशद विश्व में सर्वत्र सर्व काल भगवान की पूर्ण रूप से व्यापकता है। इसलिये इस संसार में भी अनुरक्त रहना मानों भगवान में ही अनुरक्त रहना है। किन्तु केवल इस विचार के ही आधार पर यह संसार भगवान का बस स्थूल रूप ही है, भक्ति में प्रवृति और निवृत्ति दोनों ही की साम्यात्मक समष्ठि है, क्योंकि यह संसार, जिसे केवल कठिन त्रिविधि तापों या दुखों का आवास ही कहा गया है और जिसे इस कारण ब्रह्म-ध्यान के लिये बाधक मानते हुये सर्वथा त्याज्य ही समझा जाता है। ईश्वर-मय और ईश्वर से सर्वथा व्याप्त होने के कारण यह संसार कदापि सर्वथा त्याज्य नहीं, उससे निवृति पाने की कोई भी आवश्यकता नहीं वरन् उसमें सर्वत्र उसी ईश्वर को देखते तथा जानते हुये प्रवृत्ति के साथ रमने की आवश्यकता है। लोकालोक उस प्रकाश-स्वरूप परमात्म-ज्योति का दिव्य तेज ही है। यह विश्व भगवान का स्थूल

वहिरंग या वाह्य रूप है, उससे परे नहीं है। इसीमें वह प्रभु है, तब इसे त्यागने की असंगत बात कैसी।

"व्यापक विश्व-रूप भगवाना।" रा० च० मा०

× × × ×

यही लौकिकालौकिक अथवा दिव्यादिव्य का समन्वय-भाव है। इसी आधार पर भक्ति-क्षेत्र में लौकिक सम्बन्ध नितान्त त्याज्य नहीं माना जाता। पिता में ही परम पिता, बन्धु में ही दीन-बन्धु, मित्र ही में परम मित्र आदि की भव्य भावना यहाँ सर्वथा धारणीय है। इस रूप में भक्ति का मंजुल मार्ग सब के लिये सब प्रकार सब देश में सर्वदा सुलभ है, जैसा तुलसीदास ने कहा है:—"सतत सुलभ सब कहँ सब देसा।" साथ ही यह मार्ग नितांत निराधार भी नहीं, वरन् मनुष्य की इन्द्रियों और मानव-मन दोनों ही के लिये यह सगुणेश्वर-भक्ति एक सुदृढ़ आधार-भूत सा है। ज्ञान के मार्ग में भाव के आधार का होना भले ही कहा गया या जा सकता है किन्तु और कोई भी दूसरा ऐसा सुदृढ़ समूर्त आधार वहाँ नहीं रहता, इसीलिये सूरदास जी ने लिखा है:—

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगैं मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सब ही सु निरंतर अमित-तोष उपजावै।
मन-बानी कौ अगम-अगोचर सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गनु-जाति-जुगति बिन निरालंब मन-धावै।
सब बिधि अगम विचारहिं तातैं "सूर" सगुन पद गावै।

× × ×

इस प्रकार सूरदास जी ने सगुण-भक्ति को विशेषता देकर उसे सब के लिये सरल-साध्य और एक सहज मनोवैज्ञानिक तथात्मक मानते

हुये, सगुण ब्रह्म की ही उपासना की विधि विशेष को माना और उस भक्ति पक्ष का ग्रहण भी किया है। किन्तु वे निर्गुण ब्रह्म की उपासना के कठोर विरोधी कदापि नहीं हैं। अस्तु, यहाँ अब सूरदास जी की भक्ति के सम्बन्ध में हमें विशेष प्रकार से विचार करना उचित जान पड़ता है। इसे प्रथम तो इस रूप में विचारना चाहिये कि व्यक्ति गत रूप से सूरदास जी किस विशेष प्रकार की भक्ति को अपने लिये अच्छा मानते हैं और दूसरे प्रकार से यों भी देखना चाहिये कि उनके काव्य में किस प्रकार की भक्ति का कैसा, कब कहाँ और क्यों चित्रण किया गया है। विचार से देखने पर तो यही कहना समीचीन है कि श्री स्वामी वल्लभाचार्य जी के शिष्य हो कर उनके सम्प्रदाय का अनुसरण करते हुये, सूरदास जी के लिये कृष्ण का प्रयत प्रेमात्मक मानव-मन-मोहन, रसिक-राज-स्वरूप का रास-विलास-सुखद सुधा-रस ही परम प्रेय और उनका वह "मोर-मुकुट, कटि, काछिनी, कर-मुरली उर माल" वाला तमाल-श्यामाभिराम रूप विशेष ध्येय, गेय और प्रेय है, अर्थात् वे श्रीकृष्ण की उसी मंजु मूर्ति के उपासक हैं जिसमें शील, सौन्दर्य की मधुर मंजु मोहनी और करुणा-कृपा की मंगलमयी मृदु मुसकान उन के सर्व शुचि रुचि-रुचिर-रोचक प्रकाम लोक-लोचनाभिराम श्याम-रम्य रूप वाले अनूप सुख-सुषमा-मंडित मुख-मंडल पर सर्वदा विराजती रहती है। किन्तु इसी के साथ ही सूर के ऐसे प्रशस्त पद भी पुष्कल-मात्रा में प्राप्त होते हैं, जिनमें कृष्ण के केवल बाल-रूप को ही अपलक लोचनावलोकनीय और उपास्य के रूप में दिखलाया गया है, अर्थात् कृष्ण के बाल गोपाल रूप की उपासना और भक्ति की भी झलक ललित लव-लालसा-ललक के साथ उनकी रोचक रचनाओं में उपस्थित है। भगवान श्रीकृष्ण के साथ उनका अभिन्न मित्र का सा सरस सम्बन्ध अथवा सच्चे सुखद सखा-भाव का भी पूरा प्रभाव है, और यही भाव-प्रभाव साम्प्रदायिक रूप में उनके लिये सब प्रकार समुचित

भी था, किन्तु उनकी रचनाओं में, जैसा कहा जा चुका है, प्रायः सभी प्रमुख भव्य भावों की भक्ति भावना यथास्थान और यथावसर पायी जाती है, और उन विशेष सुन्दर स्थलों या प्रशस्त प्रसंगों में ऐसे पद भी प्रचुरता से प्राप्त होते हैं जिन पदों से ऐसा व्यंजित होता है कि सूरदास जी उक्त अन्य भावों की भक्ति को भी धारणीय मानते हैं। एक स्थान पर तो वे स्वामि-सेवक अथवा दास्य भाव की ओर बड़े ही सुन्दर रङ्ग-ढङ्ग से संकेत करते हुए सरसता के साथ कहते हैं।

जेंवत कान्ह नन्द की कनियाँ।
कछुक खात कछु धरनि गिरावत छबि निरखत नँद-रनियाँ।
बरी, बरा, बेसन, बहु भाँतिन व्यंजन बिबिध अगनियाँ।
डारत खात, लेत अपने कर रुचि मानत दधि दनियाँ।
मिसरी, दधि, माखन मिश्रित करि मुख नावत छबि-धनियाँ।
जो रस नंद-जसोदा बिलसत सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नँद अँचवन कीन्ह्यो, माँगत "सूर" जुठनियाँ। सूर सागर

× × × ×

प्रभु मेरे औगुन चित न धरौ।
समदरसी प्रभु नाम तिहारौ, अपनो पनहिं करौ।
एक लोहा पूजा में राखत, एक घर बधिक परौ।
यह दुविधा पारस नहिं जानत कंचन करत खरौ।
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरौ।
जब दोनों मिलि एक बरन भे सुरसरि नाम परौ।
एक जीव, एक ब्रह्म कहावत "सूर" स्याम झगरौ।
अब की बेर मोहिं पार उतारौ नहिं पन जात टरौ।

× × × ×

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हम हीं, कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसैं लरिहौं।
हौं तो पतित सात पीढ़िन कौ पतितै ह्वै निसतरि हौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हैं बिरद-बिन करि हौं।
कत अपनी परतीति नसावत हौं पायौ हरि-हीरा।
'सूर' पतित तब ही हौं उठि ह जब हँसि दैहौ बीरा।

× × × ×

इस पद में दो प्रकार के भक्ति-भाव बड़ी चारु चतुरता से रक्खे गये हैं, एक तो, वात्सल्यमय भाव है और दूसरा है स्वामी-सेवक या दास्य भाव। भगवान श्री कृष्ण जी के बाल्य रूप का वर्णन सूर यों करते हैं कि बालकृष्ण छोटी सी छड़ी लिये हुये हैं। श्रीकृष्ण के इसी रम्य रूप पर मंत्र-मुग्ध हो कर भक्त-प्रवर सूरदास अपने को सर्वथा ही वार देते हैं किन्तु उन्हें तत्काल यह स्मरण हो आता है कि यह बाल-मूर्ति वाले कृष्ण लोकैकनाथ, त्रिभुवन-पति रमा-रमण श्री हरि ही हैं और इसलिये यही हमारे परमोपास्य प्रभु हैं। तभी वे उन्हें इस प्रकार अपना ठाकुर (सूरदास को ठाकुर ठाढो लिये लकुटिया छोटी) कह कर प्रमाण करते हैं।

यद्यपि भक्ति के क्षेत्र में उच्छिष्ट भोजन के ग्रहण करने का कोई कहीं सर्वथा स्पष्ट विधान नहीं है, किन्तु भक्त-वर सूरदास भावावेशवश एक स्थल पर लिखते हैं कि सूर भगवान के जूठे प्रसाद की याचना बड़े चाव से करता है।

"माँगत 'सूर' जुठनियाँ"

इसी प्रकार सूरदास के ऐसे कितने ही पद हैं, जिनसे यह स्पष्ट रूप में प्रतीत होता है कि वे दैन्य और दास्य भाव की भक्ति को

भी अपने लिये सर्वथा उचित और उपयुक्त मानते हैं अथवा उनसे वे विशेषतया प्रभावित हैं। दीन-भाव के साथ अपने पापों या अपराधों को स्वीकार करते हुये दीनों पर करुणा-कृपा करने वाले दीनबंधु और दीनानाथ भगवान से वे क्षमा की याचना बड़ी विनम्र चारुता और चतुरता से भी करते हैं। यह बात तो बहुत स्पष्ट नहीं है कि वह भगवान को विशेषतया दीनानाथ के रूप में लेते हैं, या दीनबंधु के रूप में, किन्तु दैन्य-भाव-सूचक कितने ही पद उनके इन भावों को व्यंजित करते हुए उपस्थित अवश्यमेव हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि विशेषतया दीनानाथ का ही भाव, जो कहीं कहीं पूर्णतया स्पष्ट भी है, सूरदास का विशेष अभीष्ट भाव रहा है। कतिपय स्थानों में सूरदास जी ने बहुत सबल और सुन्दर तर्क भी दे देकर अपने पक्ष का सवल समर्थन करते हुये भगवान को अपने ऊपर कृपा करने के लिये वाध्य सा भी किया है और अपनी नीचता को स्पष्ट शब्दों में सर्वथा स्वीकार कर भगवान के शील स्वभाव और कृपा-करुणामय शरणागत-वत्सलता को भी प्रेरित किया है और उनकी भेद-भावहीन समदर्शिता के आधार पर भी उन्हें अपने से प्रगाढ़ पापी पर भी पुण्यात्मा के समान करुणा-कृपा करने के लिये प्रोत्साहित किया है। यहाँ भी दैन्य द्रवित दास्य भाव का ही पूरा प्रतिविम्ब प्रतिबिम्बित होता है।

"हमारे प्रभु अवगुन चित न धारौ।
समदरसी है नाम तिहारो, चाहौ तो पार करौ।

× × ×

इसी के साथ कितने ही अधमाधमों के उदाहरण देकर सूरदास जी ने अपने को भी सवल और स्पष्ट शब्दों में अधम करते हुये भगवान की परमानुग्रह का सच्चा अधिकारी उसी प्रकार जानते और मानते हैं। वे कहते है :—

"सुनियत बहुत पतित तुम तारे।
स्त्रौननि सुनी आवाज।
गनिका गीध, अजामिल हू ते" इत्यादि

कितने ही पुष्टोच्च-दुष्टोद्धार-सूचक प्रमाण उनके पास हैं, उनका पक्ष इसीसे सबल है, युक्ति-युक्त है और निश्चय ही न्यायोचित है। कहीं कहीं तो भगवान की करुणा-कृपालुता और अनुपम क्षमा-शीलता की असीमता का ध्यान कर भक्तवर सूरदास का साहसोत्साह इतना बढ़-चढ़ जाता है कि वे यहाँ तक कह जाते हैं कि :—

"आजु हौं एक एक करि टरिहौं।"
कै हम हीं, कै तुमहीं माधव अपन भरौसैं लरि हौं।

× × ×

यही भाव विरोध परक सच्चा प्रेमात्मक सत्याग्रह का भव्य भाव्य है। आगे फिर वे अपनी दारुण दुखद दीनता का ध्यान कर भगवान की दीनों पर सदैव स्वभावतः रहने वाली दिव्यदया का भी ध्यान करते हैं, और भगवान को दीनों के दारिद्रय-दुखों को शीघ्र ही दूर करने वाला समझ कर उनसे उनकी कमनीय करुणा-कृपा-कोर के पाने की सदा सफलाशा और समीचीन सदाभिलाषा करते हैं। कहीं कहीं पर तो हरि के साथ मैत्री-भाव सा रख कर वे भगवान के विशेष गुण-कर्म-स्वभाव की भी बड़ी ही रुचि-रंजक, भाव-व्यंजक और मार्मिक आलोचना करते हुये उनके अपने नैतिक स्वभाव के सर्वथा समनुकूल ही रहकर अपने ऊपर कृपा करने के लिये वलात् वाध्य सा करते हैं। "कहावत ऐसे त्यागी दानि"—आदि कुछ पद तो उनके ऐसे भी प्राप्त होते हैं, जिनसे भक्ति का कोई भाव-विशेष तो पूर्णतया स्पष्ट परिलक्षित नहीं होता, किन्तु एक भक्त के भव्य भावुक हृदय की भावावेशमयी मंजुल

मुग्धता अवश्यमेव प्रगट होती है। ऐसे पद प्रायः वंदना के प्रसंग में प्राप्त होते हैं :—

"चरन कमल वंदौ हरिराई।"
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कौ सब कुछ दरसाई।
बहिरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।
'सूरदास'-स्वामी करुणामय बार बार तेहि पै बलि जाई।

× × ×

इसी प्रकार भगवान कृष्ण के आंगिक श्री-शृंगार और शोभा-सौंदर्य-वर्णन के स्तुत्य पदों में भी भक्त मन की सौंदर्योपासक मनोवृत्ति-मुग्धता ही अधिक प्रतिभात होती है। इसी बात को सबल करने वाले उनके और बहुत से ऐसे पद हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि सूरदास केवल अपने दीक्षा-गुरु श्री० वल्लभ स्वामी के सम्प्रदाय-सम्बन्धी भक्ति-भाव को ही प्राधानता नहीं देते और न उस सांप्रदायिक उपासना-पद्धति के ही सर्वथा सच्चे अनुयायी हैं, वरन् भक्ति-भावना के विस्तृत क्षेत्र में पहुँच कर वे भवावेश में आकर कतिपय रम्य रूपों में अपने उपास्य देव की भक्ति करते हैं। हाँ, प्रधानता और विशेषता अवश्य-मेव उन्होंने दास्य या सेव्य-सेवक-भाव, दैन्य-भाव और सखा भाव को हो दी है। यों तो भगवान की संतत सर्वांग(सौंदर्यशाक्तिनी समस्त मूर्ति ही अवलोकनीय तथा दर्शनीय होकर मन-मन्दिर में धारणीय है किन्तु सूरदास के विचार से उनके चरण-कमल हृदय में धारणीय और नित्य वन्दनीय, उनका नाम अर्थात् श्री हरि स्मरणीय और उनका मंजुल मुख-कंज ही विलोकनीय या दर्शनीय है। श्री हरि-कथा भी संतत सेवनीय है क्योंकि वह जहाँ भी होती है, वहीं सब पुनीत नदियाँ तथा सारे पवित्र तीर्थ स्वतः आ जाते हैं। यही गो० तुलसीदास भी मानस में कहते हैं। देखिये—

हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ, हरि चरनारविन्द उर धरौ।
श्री हरि-कथा होइ जब जहाँ, गंगा हू चलि आवै तहाँ।
जमुना, सिंधु, सरसुती आवैं, गोदावरी बिलम्ब न लावैं।
सब तीर्थन कौ बासहु तहाँ, 'सूर' हरि-कथा होवै जहाँ।

× × × ×

यह बात भी स्मरणीय है कि स्मरण के लिये भगवान की सर्वैश्वर्य-मयी प्रभु-मूर्ति अर्थात् उनका श्री राज-राजेश्वर-रूप ही सूरदास के विचार से अधिक उपयुक्त है, इसीलिये वे "वन्दौ चरन-कमल हरि राई" पद में हरि के आगे राई (राजा) शब्द का प्रयोग करते हैं। जिस प्रकार रामोपासना के क्षेत्र में राम-भक्तों ने राम के नृप रूप को लेकर उनको राजाराम कहते हुए उपास्य और दर्शनीय माना है, ठीक ऐसा ही विचार यहाँ भी आभासित होता है। यह ठीक है कि यह स्पष्ट रूप में कहीं नहीं कहा गया कि कृष्ण अभिषिक्त होकर राजा हुए थे, वस्तुतः ऐसा नहीं हुआ। इससे अतिरिक्त लीला-वर्णनों के प्रसङ्गों में जहां कहीं भी भक्त-वत्सल भगवान के गुणमय रूपाकारों में से कोई भी रुचिर रूप आता है, वहीं सूरदास अपने को भी उसी रूप में, उसके ही उपासक बनकर, लीन-विलीन करने के अवसर से लाभ उठाने में नहीं चूकते। बहुधा तो वे अपने नाम को पद के अन्त में रखकर श्रीकृष्ण के सत्यानन्द-स्वरूप का बोध कराने के लिये "सूरदास को ठाकुर" "सूरदास के प्रभु" जैसे पदों का प्रसन्नता से स्पष्ट प्रयोग करते हैं अथवा कृष्ण के साथ अपनी आत्मीयता के व्यक्त करने के लिये वह प्रायः "सूर श्याम" पद भी रखते हैं, जिसका तात्पर्य होता है कि सूर का घनिष्ट सम्बन्ध श्याम से है और श्याम सूरदास के ही हैं।

किसी किसी पद से तो शत्रु-भाव अथवा विरोधी भाव की भक्ति का भी सुन्दर संकेत अस्पष्ट रूप में मिलता है, किन्तु उसी के साथ

माधवानुग्रह जन्य प्रेमाग्रहभाव भी चलता रहता है। जैसे वे लिखते हैं कि "कै हम हीं कै तुमहीं माधव अपन भरोसैं लरिहौं।" ऐसे प्रसङ्गों या स्थलों पर कितने ही भव्य भावों की विशेष मार्मिक और मर्म स्पर्शिनी गूढ़-व्यंजनायें मिलती हैं। भगवान की असीम क्षमता, अपरिमिति शक्ति, अपार करुणा और अनन्त कृपा-शीलता का इतना दृढ़ विश्वास सूरदास जी को है, कि वे ऐसा ही समझते हैं कि हमारे कितने और कैसे ही निकृष्ट और अपार अवगुण क्यों न हों, हरि की असीम क्षमामयी करुणा के कारण वे सब क्षम्य ही होंगे।

ऐसे ही भाव पाश्चात्य अंग्रेज भक्तों में भी पाये जाते हैं, वे भी कहते हैं कि "To err is human and to forgive is divine "भूल करना मनुष्य का काम है और क्षमा करना ईश्वर का"—मुसलमान भी खुदा को रहमान और रहीम कहते हैं। इसी दृढ़ विश्वास से बहुत-कुछ निर्भय से होकर अपने असन्मार्ग पर चलते रहने के लिये भक्त दृढ़ से हो जाते हैं। भक्त और भगवान दोनों के दृढ़-भाव की यही परीक्षा है। सूरदास सब प्रकार अपने दुर्जेय दुर्जनत्व को स्वीकार तो करते हैं किन्तु उस दुर्जनत्व का जो दृढ़ स्वभाव उनका बन गया है वे उसे छोड़ भी नहीं सकते। कोई भी स्वभाव मनुष्य की प्रकृति सा ही होकर सर्वथा दुर्जेय हो जाता है।

अपने ऐसे स्वभाव को वे छिपाते भी नहीं, क्योंकि वे जानते हैं कि इससे कहीं अधिक भगवान का भी सौजन्यमयी क्षमाशीलता का स्वभाव है। वह स्वभाव भगवान को सूरदास के अपराधों के क्षमा करने के लिये वाध्य ही करेगा। दया-निधि भगवान की अपार क्षमा-शीलता की अपने मुक्त कण्ठ से भूरि भूरि श्लाधाकर सुदृढ़ विश्वास के साथ वे दुहाई देते हैं और अपने दुष्ट स्वभाव जन्य जघन्य दुष्कर्मों को नितान्त निश्शंक हो निस्संकोच भाव से स्पष्ट रूप में स्वीकृत भी करते हैं। इस प्रकार के भावों से युक्त पदों में बड़ा ही समाकर्षक विरोधाभास-मूलक भावा-

भिव्यंजन है। यह विरोध-भाव ही शत्रु-भाव का मूल है। हां इतना अवश्यमेव ठीक है कि इस विरोध में भक्ति और प्रेम के प्रकर्ष प्रभाव-जन्य आग्रह का भाव अवश्यमेव सर्वथा सन्निहित है। शत्रु-भाव में भी श्रद्धा-विश्वास-मयी पुनीत भक्ति की भावना बराबर निहित रहती है। किन्तु विरोध-भाव रखते हुये भी सूरदास जी अपने उस विरोध भाव के लिये अपने को किसी भी प्रकार कभी दोषी नहीं मानते। वे यह नहीं सोचते और न इससे भय-भीत ही होते हैं कि भगवान उन्हें दण्ड देंगे। इसका मुख्य कारण यह है कि वे जानते हैं कि भगवान में असीम क्षमा-शीलता और कृपा-करुणा है। इसका उन्हें सुदृढ़ विश्वास है। हां यह अवश्यमेव ठीक है कि वे विरोध भाव दिखलाते हुए भी अपने हरि के प्रति बराबर श्रद्धा का पूज्य भाव अपने मन में रखते हैं। वे पूर्णरूप से अपने प्रभु का सम्मान और समादर सदैव करते हैं, उनकी महानता और अपनी लघुता का पूरा ध्यान रखते हुए बड़ी श्रद्धा के साथ उनको संतत सेव्य ही समझते हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष-रूप में कह सकते हैं कि सूरदास अपने लिये मुख्यतया तीन भावों की भक्ति को ही सब प्रकार से समुपयुक्त और समीचीन समझते हैं, प्रथमतः वे लेते हैं दास्य भाव की भक्ति को और द्वितीयतः सखा-भाव की भक्ति को और तृतीयतः विरोध-भाव की भक्ति को। इनमें से भी कदाचित् दास्य भाव की भक्ति को ही वे बहुत-कुछ अधिक महत्व और विशेषता देते हैं। कितने ही पद उनके इस प्रकार के हैं, जिनसे स्पष्टतया ऐसा प्रतीत होता है कि वे भगवान को अपना प्रभु ही मानते हैं। यद्यपि वल्लभ-सम्प्रदाय के विचार से सख्यभाव को ही महत्व देते हुए उन्हें श्रीकृष्ण को अपना सखा या मित्र श्री उद्धव जी के ही समान मानना चाहिये था।

प्रभु मैं सब पतितन को टीको।
और पतित सब द्यौस चरि के, हौं जनमान्तर ही को।

बधिक, अजामिल, गनिका तारी और पूतना ही को।
मोंहि छाँड़ि तुम और उधारे, मिटै सूल क्यौं जी को।

× × × ×

कोउ न समरथ अब करिबे को खैंचि कहत हौं लीको।

× × × ×

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरौ।
प्रभु जो निज जनतैं बिगरै। इत्यादि

× × × ×

इसी के साथ दैन्य भाव भी बहुत-कुछ प्रबलता और प्रधानता के साथ उनके द्वारा विविध पदों में स्पष्टतया दिखलाया गया है। इस भाव के सम्बन्ध में भी सूर के कितने ही परम सुन्दर पद प्राप्त होते हैं।

"जापै दीना-नाथ ढरै"।

× × × ×

प्रभु तुम दीन के दुख हरन। इत्यादि

× × ×

कुछ पद उनके ऐसे भी मिलते हैं, जिनसे भक्ति का शुद्ध समाकर्षक भाव-रूप केवल भगवान के विशेष अनूप गुणों के कारण ही स्पष्टतया प्रगट होता है, सब से विशेष गुण सूर के विचार से उनका यह है कि वे कृपालु प्रभु, पतित-पावन हैं, अर्थात् प्रभु पतितों को पावन या पवित्र करने वाले हैं। इसी विचार से सूरदास अपने को महा पतित भी कहते हुए, अपनी पतित पावनता के प्रभाव से उनको पावन बनाने के लिये हरि से दीन होकर याचना करते हैं।

प्रभु मैं सब पतितन को टीको।
और पतित सब दिवस चारि के, हौ तौ जानमत ही को।
महा पतित, कबहूँ नहिं आयौ नैकु तिहारो काज।......

× × ×

जिस प्रकार गोस्वामी तुलसी दास जी भगवान श्री राम के तुच्छ दास होकर उनकी चरण-सेवा की चारु चाहना और तदर्थ एक मात्र अभीष्ट याचना करते हुये भगवान की भक्त-वत्सलता का ध्यान करते हैं, ठीक उसी प्रकार सूरदास भी स्वप्रभु श्रीकृष्ण के दास होते हुये उनका दर्श-स्पर्श चाहते हैं। हाँ हरि-चरणोपासना वे अवश्यमेव नहीं करना चाहते, वरन् वे भगवान का सुखद सान्निध्य ही प्राप्त कर उनके मंजु मधुर मुखारविन्द की दर्शनेच्छा ही की पूर्ति के लिये उनसे प्रार्थना करते हैं।

"अखियाँ हरि दरसन की प्यासी।

× × ×

अखियाँ हरि-दरसन की भूखी।

× × ×

कैसे रहीं रूप रस-राँची ये बतियाँ सुनि रूखी।
अवधि गनत एक टक मग जोवत तब एती नहिं भूखी।
अब इन जोग संदेसनि ऊधौ अति अकुलानी दूखी।
वारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी।
'सूर' सिकत हठि नाव चलाओ ये सरिता हैं सूखी।

× × ×

यहाँ तक तो संक्षेप में हुआ सूरदास की निजी भक्ति के सम्बन्ध में सांकेतिक कथन, जिसमें इस बात के दिखलाने का प्रयत्न किया

गया है कि वल्लभ-संप्रदाय में रहते हुये भी सूरदास ने केवल उसी संप्रदाय में प्रचिलित सखा-भाव ही की भक्ति को अपने हृदय में सब प्रकार स्थान नहीं दिया, वरन् उसे कुछ विशेषता देते हुये दास्य और दैन्य भाव की भक्ति को भी अपनाया है। साथ ही और दूसरे भावों की भी भक्ति की ओर भी स्थान स्थान और समय समय पर संकेत किया है।

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सखा-भाव की अपेक्षा दैन्य और दास्य भावों की भक्ति में कुछ अधिक आकर्षण और भावनावेश की तरल तीव्रता भी है। एक प्रकार से दास्य भाव किसी न किसी रूप में प्रायः अन्य सभी भावों में निहित ही रहता है। साथ ही इन भावों में व्यावहारिक विशदता और हार्दिक भावों तथा भावनाओं की मार्मिक विशदता और विदग्धता के साथ कथन करने की सरस सामग्री का भी बाहुल्य रहता है। सम्भवतः इन्हीं भावों में भव्य भावुक हृदय का जितना विशद और विशुद्ध विकास हो सकता है उतना कदाचित् सखा-भाव जैसे अन्य भावों में नहीं हो सकता, क्योंकि सखा-भाव में जो पारस्परिक व्यवहार-साम्य का विचार प्रबल रहता है, वह भगवान के साथ भक्त के लिये विशेष रूप में समीचीन नहीं ठहरता, क्योंकि परमात्मा की अपेक्षा आत्मा उस परमात्मा का अंश मात्र होकर बहुत ही अधिक हीन-दीन और क्षीण कहा गया है। वस्तुतः इन दोनों में समता या साम्य तो दूर विशेषतया विषमता सी ही है। तत्वतः दोनों में साम्य या एकता भले ही हो, किन्तु अन्य गुणों में वस्तुतः दोनों में बहुत-बड़ा अन्तर रहता है। इसीलिये सखा-भाव का पूरा पूरा निर्वाह कर लेना वस्तुतः बहुत ही कठिन कार्य होता है। बस इस विचार से दैन्य-भाव का ही प्रायः प्राबल्य पाया जाता है। अपने लिये सूरदास ने माधुर्य भाव और सखी-भाव आदि को भी कदाचित इसलिये अधिक उपयुक्त नहीं समझा, चूँकि वे पुरुष-हृदय रखते हैं और

इन भावों के लिये स्त्री-हृदय ही विशेष रूप से अधिक आवश्यक तथा उपयुक्त हुआ करता है इसमें संदेह नहीं कि सखी-भाव को पूरा पूरा उतार देना एक पुरुष के लिये अत्यन्त कठिन कार्य है।

अब एक दूसरा पटल इसी विषय का वह है, जिसका विशेष सम्बन्ध भगवद्-भक्ति के उन मुख्य रूपों से है, जो सूरदास के कृष्ण-काव्य में स्थान स्थान पर पाठ्य प्रसंग आदि के विचार से व्यक्त किये गये हैं। कहना न होगा कि भक्ति के वे सभी प्रमुख भाव, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है, उनकी विस्तृत रम्य रचना में यथावश्यकता यथास्थान यथोचित रूप में पाये जाते हैं।

यहाँ यह भी विशेष रूप में उल्लेखनीय है कि भगवान श्रीकृष्ण प्रगट तो हुए कारागार-त्रस्त वसुदेव और देवकी के यहाँ, किन्तु वे कहलाये नन्द-नन्दन और यशोदा नन्दन ही, भगवान कृष्ण की बाल-लीला का सुख नन्द और यशोदा को ही वस्तुतः मिला, वसुदेव और देवकी को नहीं, इसलिये नन्द और यशोदा में ही पूरा वात्सल्य भाव वस्तुतः प्रस्फुटित और प्रगट हुआ है, वसुदेव और देवकी में नहीं। इसी विचार से सूरदास ने श्रीकृष्ण के बाल-रूप का वर्णन करते हुए नन्द और यशोदा में तो वात्सल्य भाव का बहुत बड़ा मर्म-स्पर्शी विकास दिखलाया है, किन्तु वसुदेव और देवकी में नहीं। श्री-कृष्ण में भी यशोदा और नन्द के ही प्रति जननी-जनक-भाव का पुनीत प्रेम चाव-चारुता के साथ प्रगट किया गया है। यशोदा जी से कृष्ण कहते हैं कि बलराम जी हमें तुम्हारा क्रीत तनय कह कर चिढ़ाते हैं और प्रमाण देते हैं कि नन्द और यशोदा तो गौर हैं तुम उनके पुत्र होकर श्याम रंग के कैसे हुये।

"मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।
मोसों कहत मोल को लीनों तोंहिं जसुमति कब जायो।

कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात ।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तात ।
गोरे नन्द, जशोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर ।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर ।
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै ।
मोहन को मुख रिस-समेत लखि जसुमति सुनि सुनि रीझै ।
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत ।
सूर स्याम मोंहिं गो-धन की सौं, हौं माता तू पूत ।

× × ×

उत्तर में यशोदा किस वात्सल्य प्रेम से कहती हैं:—

सुनौ स्याम, बलराम चबाई जनमत ही को धूत ।
'सूर' श्याम मोंहिं गो-धन की सौं, हौं माता तू पूत ।"

सूरदास ने आगे चलकर बहुत सुन्दर संकेत-रूप से वसुदेव और देवकी का भी श्रीकृष्ण के प्रति स्वाभाविक वात्सल्यानुराग प्रगट किया है। यह स्मरणीय है कि सूरदास ने कृष्ण के बाल-चरित्र के चित्रण में बराबर इसी विचार का कि पित्रोर्दश गुणमाता—अर्थात् पिता से माता का महत्व दशगुना अधिक है—पूरा ध्यान रक्खा है । और श्रीकृष्ण को माता यशोदा से बहुत हिला हुआ दिखलाया है। श्रीकृष्ण भगवान ने यशोदा को ही अपने अद्भुत या विराट् रूप का दर्शन दिया है, नन्द को नहीं। नन्द को उन्होंने अपनी वास्तविकता को जानने भी नहीं दिया । यह भी सत्य है कि भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी माया-मोहनी के प्रभाव से यशोदा जी को भी अपने वास्तविक रूप और महत्व का ऐसा विस्मरण करा रक्खा है कि वे कृष्ण को जान कर भी नहीं जानतीं और उन्हें एक साधारण या सामान्य बच्चा सा ही मानती हैं और उनके अन्यथाचार के लिये

उन्हें विविध प्रकार के दण्ड भी देती हैं। यशोदा के रोष के समय में भी कृष्ण अपनी मोहनी माया का प्रयोग करते हैं और यशोदा को अपने रुदन से भी मुग्ध सा कर देते हैं। इसी के साथ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह एक नियम है कि रुचिकर-रुदन करने वाला बालक सौभाग्यैश्वर्यशाली होता है, और उसे जीवन में कदापि रोने की आवश्यकता नहीं होती। रुदन के समय रम्य रव और रम्य मुखाकृति सौभाग्य सूचक होती है।

यद्यपि हरि की असीम शक्ति और महान महत्ता का पर्याप्त परिचय अन्य ग्वालिनियों और गोपों को भी प्राप्त होता है किन्तु वे भी सब के सब हरि की मोहिनी माया-कृत विस्मृति से ऐसे सर्वथा प्रभावित रहते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व को सब प्रकार भूल ही जाते हैं। सर्वत्र सूरदास ने कृष्ण के बाल-वर्णन में भगवान की इस माया-मोहनी की शक्ति का विमोहक कौतुक और कुतूहल दिखलाया है। उनकी यही मोहनी-शक्ति विशद विश्व के चराचर को आत्म-विस्मृति के साथ सदैव सर्वथा विमुग्ध किये रहती है। इसी के साथ सूर ने सामुद्रिक आदि दैवज्ञ-शास्त्रों के आधार पर भगवान की चलने, फिरने, गाने, रोने आदि क्रियाओं में भी इस मन मोहनी से अतिरिक्त उनके परम सौभाग्य और ऐश्वर्य की ओर भी स्पष्ट संकेत किया है। यही बात राम-काव्य में गो० तुलसीदास ने भी मार्मिकता से रक्खी है।

यशोदा और अन्य गोपियाँ भी भगवान के रम्य रुदन-रव और तत्प्रभाव-जन्य विकृत मुख-मुद्रा को देख और सुन कर सर्वथा मंत्र-मुग्ध सी होकर आत्मविभोर हो आत्मविस्मृति को प्राप्त हो जाती हैं। हरि-रोदन में भी उन्हें एक ऐसी विशेष प्रकार की मोहनी मधुरता और मनोरमता मिलती है कि वे उन्हें रोते देख आनन्द-विभोर हो जाती हैं और यह भूल जाती हैं कि अब हरि को चुप कराया

जाय। इसी प्रकार भगवान के घुटनों और पैरों से चलने में भी उनके बजने वाले आभूषणों में से सुन्दर सुखद संगीत-स्वर-लहरी सी प्रगट होकर सब को विमोहित किये रहती है। उनकी रूप-मोहनी तो निरंतर ही अपना पूरा प्रभाव डालती रहती है। विशेषता इसमें यह है कि उनका रूप सौन्दर्य प्रति क्षण नितांत नवीन होकर निखरता तथा बिखरता रहता है। दिव्य सौंदर्य का यही एक प्रधान गुण या लक्षण है कि वह सदैव सर्वत्र सब के लिये समान रूप से सुखद, समाकर्षक और प्रति क्षण नव्यभव्य होता रहता है।

ग्वाल-वालों के साथ खेलते हुए कृष्ण का उनके प्रति और श्रीदामा आदि ग्वाल-वालों का कृष्ण के प्रति सुखद सुन्दर सखा-भाव बड़ी कुशलता और मार्मिकता से दिखलाया गया है। विशेषता यह है कि इस भाव में किसी भी प्रकार कहीं भी कुछ अस्वाभाविकता सी नहीं आ पाई। यद्यपि ग्वालवालों को भी यदा कदा कृष्ण की अलौकिक परम शक्ति का यत्र-तत्र परिचय प्राप्त हो जाता है (बकासुर तथा अघासुर आदि के वध में) फिर भी वे कृष्ण को अपना ही जैसा केवल एक साधारण सा बालक और अपना सच्चा सखा ही सा मानते हैं और उनके महान महत्व की ओर कुछ भी कहीं किसी भी प्रकार ध्यान नहीं देते वरन् कहते हैं कि तुम अपना क्यों महत्व दिखलाते हो, हमसे तुम कुछ अधिक नहीं, हाँ कुछ गायें ही कदाचित तुम्हारे पास हमसे अधिक हैं।

"खेलत मैं को काकौ गोसैय्याँ"।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रुसैय्याँ।
जाति-पाँति तुमतैं कम नाहीं नाहिन बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।

रूहठि करै तासौं को खेलै बैठि रहे जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
'सूरदास' प्रभु खेलोई चाहत दाँव दियो करि नन्द दोहैया।

× × × ×

कृष्ण भी उनके इस प्रकार से कहने पर तुरन्त ही सावधान हो जाते हैं और तत्काल ही अपना व्यवहाराचार बदल देते हैं; और रोष छोड़कर प्रसन्नता के साथ फिर उनसे मिल कर खेलने लगते हैं। यह है सखा-साम्य का सद्भाव। इस भाव में पारस्परिक साम्य-भाव के कारण कुछ विशेष दुराव-छिपाव भी नहीं रहता तथा परस्पर हास-परिहास, विनोदामोद आदि के साथ कभी कभी जलीकटी बातें भी हो जाती हैं। सिखावन या उपदेश और अनमर्ष परामर्ष भी दिया जाता है।

अब आगे गोपिकाओं के साथ कृष्ण का और कृष्ण के साथ गोपिकाओं का मंजुल माधुर्य-मय परम प्रेम-नेम बड़ी चारुता से दिखलाया तो गया है किन्तु सभी गोपियों के साथ नहीं, क्योंकि वयोवृद्ध गोपिकायें श्री कृष्ण के प्रति विशेषतया वात्सल्य भाव ही रखती हैं। समवयस्क तरुण और किशोरावस्था की गोपियों में से कुछ में तो मृदुल माधुर्य भाव है और कुछ में सखी-भाव है। इन सब भावों में आत्मीयता का भाव सब प्रकार सभी गोपिकाओं में प्राप्त होता है। कृष्ण वस्तुतः सभी गोपिकाओं को भाव-भेद के होते हुए भी समान रूप में प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं। यह सत्य है कि कृष्ण की सब से अधिक प्रिय गोपिका राधिका है जो आह्लादिनी शक्ति-रूपा हैं, यही वस्तुतः उनकी प्राणाधिका है। अन्य गोपियों को उनके बराबर कृष्ण का पुनीत प्रेम नहीं प्राप्त हुआ।

यद्यपि रास-विलास, जल-क्रीड़ा आदि विहारों और विलासों में सभी गोपिकायें समान रूप से कृष्ण का प्रयत प्रेम-पीयूष प्राप्त

करती हैं तथापि कृष्ण राधिका को ही अपनी विशेष प्रिया मानते हैं। गोपिकायें इसे देख कर भी राधिका के साथ ईर्षा-द्वैषादिमय सपत्नी का भाव नहीं रखतीं वरन् उन्हें अपनी और अपने को उनका मानती हैं। यदि उनमें ईर्षा-द्वैषादि का कहीं कुछ प्रभाव है भी तो केवल कृष्ण की उस मुरली के ही प्रति, जो उन्हें समाकृष्ट कर मंत्र-मुग्ध सा कर हरि-रस-विभोर कर देती है, ऐसा भी कभी कभी ही होता है। इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि केवल मानसिक अनुराग ही कृष्ण के प्रयत प्रेम-रस की पूर्ण प्राप्ति का प्रधान हेतु नहीं, वरन् प्रधान हेतु है प्रेम की अखंड साधनामयी अनन्य कृष्णाराधना। अनुराग के साथ होनी चाहिये गहरी स्नेह-साधना और विराग या त्याग-प्रेममयी तपस्या और सुदृढ़ भक्ति-श्रद्धा इन्हीं दोनों के कारण, जैसा गोपिकायें स्वयमेव जानती और मानती है और स्पष्ट रूप से कहती भी हैं, मुरली को भगवान के मंजु-मृदु-मधुर अधर पर कमनीय आसन मिला है।

यहीं पर गोपिकाओं को आत्म-त्यागमयी और आत्मसमर्पणमयी भक्ति का स्वाभावतः ज्ञान होता है और इसके महत्व का पता चलता है। बस इसी प्रकार की भक्ति से आत्म-त्यागी, अनुरागी भक्त अपने भगवान को अपने वश में कर सकता है, जैसा गोपिकायें सोचती हैं कि मुरली ने किया भी है। कहाँ तक गोपिकाओं ने मुरली का अनुकरण सफलतापूर्वक कर पाया है, यह बहुत स्पष्ट शब्दों में सूरदास के द्वारा चित्रित नहीं किया गया। इस बात का गोपियाँ स्पष्टतया अनुमान करती हैं कि मुरली ने अपना वंश छोड़ा, हरि-यारी से सूख गई, काटी गई, छेदी गई और दाही गई, यों सभी यातनायें सहीं, तब यह परम सुखद कृष्णाधर पर आसन पा सकी, और कृष्ण-कर-स्पर्शन-सुख-रस से रंजित हुई। इसी लिये प्रसन्नतावेश से खूब वह गाती हैं।

इसी भाव के ध्यान के साथ गोपिकाओं को अपनी प्रेमा भक्ति

में स्वाभिमान का दोष भी दिखलायी पड़ता है। चूँकि गोपिकायें कृष्ण को अति प्रिय हैं, इसलिये कृष्ण उनके इस अभिमान को, उन्हें विषम वियोग का दारुण दुख देकर, दूर कर देते हैं। इसका सुन्दर संकेत रास के प्रसंग में है। भगवान अपने प्रिय भक्त में गर्व या अभिमान नहीं रहने देते अन्यथा उसकी भक्ति-साधना में बाधा के उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। यह बात कदापि भगवान को रुचिकर नहीं है।

यह भी स्पष्ट रूप में सूरदास ने कहीं नहीं दिखलाया कि कुछ गोपिकायें कृष्ण को अपना परम प्रिय इसलिये मानती हैं कि वे उस राधिका की प्रिय सखियाँ या चिरसंगिनी सहेलियाँ हैं, जो कृष्ण को प्राणों सी ही प्रिय है और जिन्हें कृष्ण भी जीवन-धन से होकर परम प्रिय हैं। वस्तुतः सुन्दर सुखद सखी-भाव यही है। यद्यपि सखी-भाव की भक्ति का भी केन्द्र व्रज में रहा था, तथापि संभवतः उसका अधिक गहरा प्रभाव सूर और उनके काव्य पर नहीं पड़ सका। संकेत-रूप में सूर के द्वारा यह अवश्मेव प्रगट किया गया है कि गोपिकायें कृष्ण के प्रिय सखा उद्धव के प्रति सुन्दर सद्भाव रखती हैं और उन्हें समादर से देखती हैं, क्योंकि गोपियाँ तो राधिका की सखियाँ हैं और उद्धव उनके प्रिय प्रभु श्रीकृष्ण के प्रिय मित्र हैं।

श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने और वहाँ कंस-वध की लीला करने के प्रसंग में कंस के मन में शत्रु-भाव की भक्ति का किंचित् संकेत किया गया है। प्रति क्षण सर्वत्र वह कृष्ण को ही अपने काल के रूप में देखता है और अन्त में उनके ही हाथों से मरकर मुक्त भी हो जाता है। सूर के द्वारा इस प्रसंग पर कोई भी विशेष प्रकाश अवश्यमेव नहीं डाला गया। यद्यपि गो० तुलसीदास ने अपने रामचरित मानस में रावण के चरित्र-चित्रण करते हुए इसे सूर की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप में रक्खा है।

रावण ने हठ-पूर्वक राम से जान-बूझकर शत्रुता की और अपने सारे राक्षस-वंश को भी घेर-घेर कर अपने साथ मुक्ति-प्रद राम-कर-शर-तीर्थों में सुस्नात करा संसार-सागर से पार कराया—

"जन-रंजन, भंजन भुव भारा, जो प्रभु लीन्ह मनुज अवतारा।
तौ मैं जाइ बैर हठ करिहौं, बिन प्रयास भव-सागर तरिहौं।"

रावण ने सदैव राम को अपना शत्रु माना और कभी भूलकर भी उनका नाम नहीं लिया, केवल मृत्यु के समय में ही एक बार 'राम' का उच्चारण किया और पार हो गया।

"...कहाँ राम रन हतौं प्रचारी"—मानस

वस्तुतः भगवान को, जो जिस भाव से लेता है, वे उसे उसी भाव से मिलते हैं:—उसी रूप में वे उसे सदा दीखते हैं—भावना रूप भगवान हैं—

जाकर रहा जहाँ जस भाऊ, सो तस देख्यो कौसल राऊ।"
जाकी रही भावना जैसी, प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी।"—मानस
"ये यथा माम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"—गीता

इसी प्रसंग में कुब्जा की दास्यभावमयी भक्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सूर और दूसरे कृष्ण-काव्यकारों ने भी कुब्जा और कृष्ण का चारु चित्र-चित्रण गहरे रुचिर-रोचक रंगों में किया है, दासी कुब्जा को भगवान कृष्ण का परम पावन प्रेम प्राप्त हुआ और भगवान की उस पर ऐसी दया-दृष्टि की सुवृष्टि हुई, जिसे सुनकर समस्त ब्रज-वनिता-वृन्द सदैव सिहाता ही रहा।

इसी प्रसंग में यह भी दिखालाया गया है कि गोपिकायें कुब्जा के प्रति सपत्नी-भाव रख ईर्षा द्वेष के भाव भी रखती हैं, किन्तु कृष्णानुरक्ता किंकरी कुब्जा की ओर से ऐसे भाव कदापि कहीं स्पष्टतया

व्यक्त नहीं किये गये। ठीक भी था यही दिखाना क्योंकि सच्ची भक्ति में ऐसे दूषित भाव कहाँ, भूत-भावन भगवान का दुर्लभ पावन प्रेम और उनकी करुणा-कृपा को प्राप्त करके कोई भी सच्चा भक्त दास ऐसे निषिद्ध विकारों से प्रभावित या विद्ध कदापि नहीं हो सकता। यहाँ यह भी देखना चाहिये कि गोपिकाओं में कुछ साधारण सा लौकिक वासना-विकार अवश्यमेव हैं, इसीलिये उन्हें भगवान का चिर स्नेह-सहयोग नहीं प्राप्त हुआ, भक्तात्मा भगवान को पाकर भी यदि ऐहिकता में पड़ जाता है तो भगवान उससे फिर परे हो जाते हैं। यह भी यहाँ सूचित किया गया है कि भगवान केवल शुद्ध सात्विक भाव ही चाहते हैं, विशुद्ध भक्ति-भावना को ही सराहते हैं और पुनीत प्रेम से ही प्रसन्न रहते हैं। उसी से वह भक्त के हो जाते हैं। उनके लिये ऊंच-नीच आदि के भव-भेदी भेद हैं ही नहीं।

कुब्जा या कूबरी दासी भले ही रही हो, किन्तु वह रही थी भगवान की शुद्ध भक्ति से भरी और विशुद्ध। उसमें वस्तुतः शुद्ध सच्चा सात्विक प्रेमानुराग था, वह अपनी ही भक्ति-भावानुरक्ति में प्रति लग्न मग्न रहती थी, इसी से उसे भगवान की विशेष अनुग्रह भी प्राप्त हुई। ठीक यही बात आगे चलकर कृष्ण के द्वारा विदुर के विशुद्ध पूत प्रेम-पूरित साधारण भोजन के ग्रहण करने में भी सूचित की गयी है। श्रीकृष्ण ने उनकी भी भव्य भावुकता-भरी अनुरक्ति-भक्ति को देखकर उन्हें अपनाया था, और अपनी अनुपम अनुग्रह का प्रियपात्र बनाया था। सब कुछ छोड़ अशरण-शरण की चरण-शरण में जाकर जो उन्हीं में अपने चित्त को नित्त लगाये रहता है, उसी वीतराग सानुराग भक्त को भगवद्भक्ति का सुधा-रस मिलता है।

श्रीदामा अथवा सुदामा के प्रसंग में भी दो विशेष बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। प्रथम तो सुदामा की सुंदर सात्विक वृत्ति और स्तुत्य आत्म-संतोष की ओर और दूसरे भगवान

कृष्ण के मधुर मैत्री-सम्बन्ध की स्निग्धता तथा पुनीत प्रीति-प्रतीति की ओर। सूरदास ने इस विषय पर कुछ बहुत अधिक तो नहीं लिखा, हाँ, उद्धव के प्रसंग को लेकर अवश्यमेव उन्होंने कुछ हरि-मैत्री की महत्ता पर विशेष लिखा है। किन्तु उद्धव और श्रीकृष्ण के स्नेह-स्निग्ध सखा-सम्बन्ध का चारु चित्र यथेष्ट गहरे रुचिर रंगों में अवश्यमेव नहीं चित्रित किया। उद्धव अच्छे योगी और प्रशस्त ज्ञानी हैं, वे इसी से भक्ति-भाव के पक्ष में विशेष नहीं। भगवान कृष्ण उनका इसी लिये परम हित करने को एक रहस्यमय व्याज से ब्रज में भेजकर गोपी-भक्ति-भागीरथी में सुस्नात करा सर्वथा विमल मनकाय कर देते हैं। ब्रज से जाकर उद्धव गोपिकाओं की श्रीकृष्ण भगवान के प्रति भूरि भावभरी भक्ति-भावना और उत्कृष्ट उपासनानुरक्ति की स्पष्ट अभिव्यक्ति से प्रेमाभक्ति का शुद्ध परिचय प्राप्त करते हैं जिससे उनमें ज्ञान और उपासना और विश्व-विरक्ति तथा सच्ची कृष्णा-नुरक्ति दोनों ही का अद्भुत एकीकरण और सुन्दर समन्वय सा हो जाता है। अतएव वे भगवान कृष्ण के अनन्य सखा और धरा-धन्य भक्त हो जाते हैं। इससे यह भी व्यंजित है कि भक्ति और ज्ञान का समन्वय ही सर्वथा समीचीन है। दोनों का एकीकरण ही सैद्धान्तिक रूप में धर्म-मर्म है। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी ज्ञान और भक्ति दोनों में भेदाभेद सा मान, अद्वैत भाव ही माना है "ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा"—मानस।

इस प्रकार यद्यपि सूर के कृष्ण-काव्य में भक्ति के विविध भावों का स्थान स्थान पर उत्तम उल्लेख किया गया है किन्तु अधिक महत्व अवश्यमेव दिया गया है, गोपियों के माधुर्य और कान्ता-कान्त भाव को ही। इसी भाव-भावनामयी भक्ति का गोपियों और कृष्ण की विविध ललिताद्भुत लीलाओं में भी बहुत ही गाढ़े रंगों से चारु चित्रण किया गया है। माधुर्य भाव से वस्तुतः तात्पर्य है, दाम्पत्य भाव का,

जिसमें नायक और नायिका अथवा स्त्री और पुरुष (पत्नी और पति) में जो शुद्ध प्रतीतिमयी सुप्रीति का भव्य भाव श्रद्धा-सेवानुराग के साथ अपने विविध रूपों में शनैः शनैःसुविकसित होता हुआ निखरता और बिखरता है, उसे दाम्पत्य-भाव कहते हैं। इसमें विश्व-विरति किंतु प्रिय के प्रति रुचिर रस-रंजित रति रहती है। यही कान्ता-कान्त-भाव भी कहा जाता है और साधारणतया माधुर्य और दाम्पत्य दोनों के समानार्थक पर्याय-शब्दों के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु वस्तुतः दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। दाम्पत्य या कान्ता-कान्त-भाव तो वहाँ रहता है, जहाँ नायक और नायिका परस्पर पति और पत्नी के रूप में स्नेह-सम्बद्ध रहते हैं, अन्यथा यह भाव नहीं। कहना तो यों चाहिये कि दाम्पत्य-भाव वास्तव में माधुर्य-भाव का एक सीमित अथवा संकीर्ण रूप सा है और वस्तुतः स्वकीया-प्रीति को ही सूचित करता है।

इस भाव में प्रीति के साथ ही श्रद्धा, सेवा और भक्ति के भव्य भाव और उपासना की भक्ति-भावनायें भी सन्निहित हैं, जिससे कहना चाहिये कि स्वामी-सेवक-भाव या दाम्पत्य-भाव का भी इस पर अन्तर्व्यापी यथोचित प्रभाव रहता है और कभी कभी पारस्परिक सखा-सम्बन्ध के साम्य-भाव का विचार भी इस में सन्निहित सा रहता है। शुद्ध स्वकीया के पुनीत हृदय में स्वपति के प्रति एक विशेष प्रकार का शुद्ध श्रद्धा-समादर और स्वजीवनाश्रयता या आत्मीयता की भावना भी भरी रहती है, अर्थात् दाम्पत्य-भाव में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध-जनित नित अभेद भाव सा भी आभासित होता रहता है।

वस्तुतः स्वपति के लिये स्वकीया में आत्मोत्सर्ग, आत्मसमर्पण की भावना ही बनी रहती है अथवा स्वसर्वस्व-त्याग की पूर्ण अभिन्नोदार-भावना तल्लयता के साथ बिना किसी अंतर के निरंतर परमोपास्य पति के प्रति रहती है। इसके साथ ही स्वकीया स्वपति को परमाराध्य और स्नेह-साधना-साध्य देवता के रूप में अथवा संतत-सेव्य प्राण-प्रभु के रूप

में ही जानती और मानती है। इसीलिये उसकी प्रीति में सच्ची सात्विकता की शुद्धता और पवित्रता रहती है, किन्तु माधुर्य-भाव, जैसा उसके नाम ही से प्रकट है, भावना की मंजु-मधुरिमा से ही सम्बन्ध रखता है। यह वह प्रगाढ़-प्रतीति-प्रीति-भाव है; जो किसी नायक और नायिका के रूप, गुण आदि के पारस्परिक समाकर्षक प्रभाव से समुत्पन्न होकर चलता है। इस भाव में पारिस्परिक स्नेह-सम्बन्ध का साम्य ही प्रायः प्रधान रहता है, और विशेष सात्विकता और पवित्रता नहीं रहती। कभी कभी स्वसौंदर्य-गुमान रूपाभिमान और छवि-गुण-गौरव की भावना नायिका को इस रूप में भी उपस्थित करती हैं कि वह साधारण शिष्टता और सभ्यता के विचार से कभी कभी सर्वथा सराहनीय नहीं कही जा सकती। साम्य-भाव की भी सीमा से वह बाहर निकल जाती है। चूँकि यह भाव परकीया से भी सम्बन्ध रखता है इसलिये सामाजिक और चारित्रिक दृष्टि-कोण से यह प्रायः सर्वथा श्रेयस्कर भी नहीं माना जाता। तात्पर्य यह है कि माधुर्य-भाव में दाम्पत्य-भाव के समान विशेष श्रद्धा और सेवा-समन्वित प्रीति-प्रतीति की पावन पूर्ति नहीं रहती। उसमें रूपादि-प्रभावित राग-रति की स्फूर्ति ही रहती है। माधुर्य-भाव को अधिक व्यापक और विस्तृत तथा दाम्पत्य-भाव को उसके अंतर्गत सीमित क्षेत्रवर्ती कह सकते हैं।

गोपिकाओं का भगवान श्रीकृष्ण के साथ सर्वथा साम्य भावात्मक स्नेह-सम्बन्ध ही नहीं है, वरन् उच्चानुराग भी है। हाँ राधिका और कृष्ण भागवान में माधुर्य-भाव और दाम्पत्य-भाव वाली दोनों प्रकार की प्रीति है। वास्तव में इन दोनों में साधारण भक्ति का ही भाव नहीं वरन् प्रेम-पूर्ण भक्ति-भाव है, क्योंकि जैसा माना गया है, राधा और कृष्ण प्रकृति और पुरुष अथवा रमा और रमेश अथवा माया और ब्रह्म होते हुए अन्त में एक ही हैं, केवल कहने के लिये ही वे एक दूसरे से लौकिक दृष्टि में पृथक हैं, वस्तुतः दोनों में भेदाभेद भाव है। राधिको-

पनिषद् में तो भगवान श्री कृष्ण ने राधिका को अपनी आत्मा और आह्लादिनी शक्ति ही बतलाया है। वही ईश्वर के प्रति प्रेम-पूर्ण भव्य भक्ति-रूपा है, इसलिये कहना चाहिये कि दोनों में एकही पावन प्रेम, जो विश्व का प्राण है, सर्वथा मूर्तिमान है। इसी के साथ यह भी माना गया है कि राधा और कृष्ण वास्तव में भक्ति और भगवान के रूप में हैं, किन्तु जैसा चित्रण इसका कृष्ण-काव्य में हुआ है वह प्रधानता माधुर्य-भाव को ही रखता है। राधा और कृष्ण दोनों एक दूसरे के रम्य रूप, गुण आदि से सब प्रकार समाकृष्ट होकर परस्पर पूर्णतया स्नेह-संसिक्त रहते हुये अनुरक्त होते हैं। राधिका को स्वरूप-गुण का कुछ गुमान भी होता है। इसी से वह कभी कभी कृष्ण से मान भी करती हैं, भगवान उस गर्व को राधिका का परित्याग करते हुए दूर करते हैं। इस प्रकार कृष्ण-काव्य में यह व्यंजित किया गया है कि राधिका तो मोहिनी माया की मंजु मधुर मूर्ति और श्री कृष्ण भूत-भावन भगवान विष्णु की, जो मायापति है और भक्ति-वश माया से परे भी है, मूर्ति हैं।

यदि वृषभानुजा राधिका कृष्ण की ओर आकृष्ट होती हैं, तो श्री नंद-नंदन कृष्ण भी उसी प्रकार राधिका की ओर आकृष्ट होते हैं। दोनों में आकर्षण की सच्ची समता सी ही है, दोनों में प्रेमानुराग भी सम हो सा है, किन्तु राधिका में कृष्ण के प्रति जितना तीव्र प्रेम है उतना कृष्ण में अवश्यमेव नहीं दिखलाया गया। सम्भवतः कारण इसका यही है कि भगवान तो माया के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट और अनुरक्त नहीं होते, हाँ माया सदैव भगवान के प्रति विशेष स्नेहानुरक्ति रखती है और उन्हें अपने आधीन अथवा वश में करना चाहती है। इसी विचार से वस्तुतः कृष्ण-काव्य में राधिका और कृष्ण के सम्बन्ध में कुछ विगलता सी भी दिखलायी गयी है। माया अपने मायेश के मोहन के प्रयत्न में सर्वथा सफल नहीं होती। भगवान माया-पति होते हुए भी माया से पूर्णतया परे रहते हैं। इसी प्रकार

कृष्ण भी राधा-रमण हो कर भी राधिका से पृथक रहते हैं। हाँ राधा आत्मारूपिणी हो कर परमात्म-रूपी कृष्णमय ही है और दोनों एक हैं—यह सिद्धान्तेतर-विचार है। इस प्रकार राधिका के लिये दो प्रकार का विचार है—वह माया-रूपिणी है और आह्लादिनी शक्ति रूपा हो कृष्णात्मा भी है, अतएव दोनों अंततो गत्वा एक और अभिन्न हैं—और माया होकर राधा हरि रूपी मायेश से उसकी होकर भी उससे पृथक है। केवल संयोग शृंगार को ही लेकर राधा और कृष्ण के सम्बन्ध का साधारणतया साहित्यिक रूप में नायक-नायिका-परक चारु चित्रण किया गया है, और संयोग तथा वियोग, शृंगार के दोनों पक्षों को लेकर दोनों की शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार की दशायें चारु चातुरी से चित्रित की गयी हैं।

राधिका और कृष्ण का वियोग वस्तुतः माया और ब्रह्म का वियोग है अथवा आत्मा और परमात्मा के ऐक्य में अनैक्य-सूचक वियोग है, जो अंत में संयोग में ही लय हो जाता है। प्रथम तो राधा-कृष्ण का यह वियोग अल्पकालीन और एक प्रकार से व्याज के रूप में हुआ है, किन्तु फिर राधिका की भूल से (गर्व की अति से) यही वियोग सदा के लिये चिरस्थायी सा हो गया। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान एक बार तो केवल थोड़ा ही सा दंड देकर आत्मा को सचेत करते हैं और उसके गर्त्तावर्तगामी गर्व को दूर करते हैं किन्तु जब आत्मा फिर भी अपना सुधार नहीं करती और पूर्व की अपेक्षा और भी अधिक आत्म अभिमान में आ जाती है, तब भगवान उसे सदा के लिये सर्वथा छोड़ दिया करते हैं और वह फिर सदैव अपने मूल परमात्म तत्व से पृथक होकर दुखी रहती है। उसे यह चिर वियोग असह्य हो जाता है,और वह निरंतर ही फिर से मिलने की चेष्टा या चिन्ता करती है। आत्मा में अहंभाव स्वाभाविक है, यह परमात्मांश होने से उसमें संस्कार-रूप से सदैव सहज रूप से

रहता है, इसी के अतिरेक से वह अपने को भूल अपने मूल को भी भूल जाता है, और उस मूल से दूर या परे होकर दुख उठाता है।

अब आगे शेष गोपियों में से कुछ व्रज-गोपिकायें राधिका के ही समान भगवान श्रीकृष्ण को अपना स्वामी या प्राण-प्रिय पति सा मानती हैं, जैसे चन्द्रवली, रेवती आदि। किन्तु कृष्ण उनके प्रति वैसा प्रतीति-प्रीति-भाव नहीं रखते, जैसा वस्तुतः वे राधिका के प्रति रखते हैं। गोपिकायें वस्तुतः भक्तात्मायें हैं, किन्तु रधिका भगवदात्मा और माया-मोहिनी शक्ति है। भागवत में इस प्रकार का सुन्दर संकेत दिया गया है, यद्यपि राधा या राधिका शब्द का प्रयोग वहाँ स्पष्टतया नहीं किया गया है। इन गोपिकाओं में कृष्ण के प्रति वह पूर्ण पवित्र माधुर्य-भाव है, जिस पर दाम्पत्य-भाव का यथेष्ट प्रभाव पड़ा हुआ है, क्योंकि गोपिकायें श्रीकृष्ण को अपना प्रिय पति ही मानती हैं।

यह भी वहाँ कहा गया है कि वास्तव में यह भगवान की केवल अघटित घटना-पटीयसी वह योग-माया मात्र थी, जिसके प्रभाव से गोपिकायें अपने पतियों को ही श्रीकृष्ण के ही अभीष्ट रूपों में देखती थीं। इसी प्रकार यह भी कहा गया है कि गोपिकाओं का ध्यान इतना अधिक एकाग्र होकर श्रीकृष्ण में लीन-विलीन है कि वे उस ध्यान की एकाग्रता के प्रबल प्रमाव या वेग से सर्वत्र श्रीकृष्ण को ही प्रत्यक्ष-रूप में देखती हैं।

मनोविज्ञान भी इसी बात की पूर्णतया पुष्टि करता है, वह भी ध्यानैकाग्रता और आशावेश-ध्यान को प्रवल मानता है और यों कहता है कि प्रतीक्षात्मक या आशात्मक ध्यान का प्राधान्य-प्रावल्य वस्तुतः अप्रत्यक्ष को भी प्रत्यक्ष कर सकता है और अभाव का भी भाव या उद्भाव उपस्थित कर देता है। कृष्ण-लीला के इस प्रसंग में यहाँ एक बड़ी विशेषता तो यह है कि इन गोपिकाओं में राधिका के प्रति कोई

भी विशेष सपत्नीक ईर्षा एवं द्वेष का भाव-प्रभाव नहीं है, और वस्तुतः यही ठीक भी है, क्योंकि राधिका तो वास्तव में भगवान कृष्ण की आत्म-स्वरूपा है। शेष गोपिकायें तो आत्मायें मात्र ही हैं। इसलिये वे राधिका में कृष्ण को और कृष्ण में राधिका को ही सर्वदा देखती हैं। किन्तु जब वे दासिका-दुलारी कुब्जा और अपने प्रिय-कृष्ण की प्रगाढ़ अनुरक्ति का समाचार पाती हैं तब कुब्जा के प्रति सपत्नीक ईर्षा और द्वेष-जन्य कितने ही कटु उलाहने उठाती हैं। कुब्जा वस्तुतः अविद्या माया से रूप में है, केवल इसी भाव से वह दासी कही गयी है और सुदृढ़ भक्ति और पावन प्रभु-प्रेम के कारण ही श्रीकृष्ण भगवान की उस पर कल्याणकारिणी, तापत्रयहारिणी कृपा दिखलायी गयी है, न कि कृष्ण के प्रति उसकी प्रीति के कारण, क्योंकि भगवान अविद्या-ग्रस्त संत्रस्त आत्मा पर ही कृपा-करुणा करता है।

ब्रज की अन्य धन्य वनितायें या गोपिकायें उक्त गोपिकाओं की प्रिय सखियाँ अथवा सहेलियाँ ही हैं और इसी रूप में वे कृष्ण को प्रिय भी हैं और इसी से कृपा भी उनको कृष्ण की प्राप्त है। यद्यपि सूरदास ने बहुत स्पष्ट शब्दों में इसे सुव्यक्त नहीं भी किया, क्योंकि अपने वल्लभ-सम्प्रदाय की प्रचलित प्रणाली के अनुसार वे सखी-भाव को किसी प्रकार कोई भी विशेष प्रधानता नहीं देना चाहते और ऐसा ही करना उनके लिये सर्वथा समीचीन भी था। यही बात गो० तुलसीदास ने भी अपने रामचरित-मानस में सीता की सहेलियों के प्रसंग में दिखलायी है और उसे इस प्रकार लिखा है :—राम को देखकर सीता की सखियाँ भगवान से मनाती हैं कि राम और जानकी का विवाह हो जाय, तब राम के दुर्लभ दिव्य-दर्शनों का सुख हमें मिल सकेगा—

"सखि हमारे जिय आनँद ताते, कबहुँ कि आवहिगें यहि नाते"
नाहि तौ हम कहँ सुनहु सखि, इनकर दरसन दूरि।

यह संघट तब होइ जब, पुन्य पुराकृत भूरि ॥" (मानस)

तीसरी श्रेणी उन गोपिकाओं की है, जो गोपिकायें यशोदा जी की समकक्ष हैं और जग-पालक श्रीकृष्ण भगवान को अपने बालक के समान मानकर वात्सल्य-भाव से प्यार करती हैं, कृष्ण जी जब उनके दही-माखन आदि की चोरी करते हैं तब वे यशोदा को उसके लिये उलाहना तो देती हैं किन्तु जब यशोदा उनके सामने श्रीकृष्ण को दंड देने लगती हैं तब वे उन्हें रोकती हैं और कहती हैं कि तुम बड़ी निष्ठुर हो, ऐसे प्राण-प्रिय, कुल-पालक बालक को यों तनिक सी बात के लिये दंड देती हो, तुम्हारे यहाँ दूध-दही तो बहुत है, क्यों नहीं माई बहुत सी मक्खन-मलाई उसे खाने और बरबाद करने को दे देती हो। अरे देखो तो सही, यह कहाँ तक खाये-खिलायेगा और कहाँ तक बरबाद करेगा——भगवान भवन भर रहा है, क्यों घबराती हो।

महरि तू बहुत निठुर है माई,

× × × ×

घर घर कान्ह खान कौ डोलत अतिहिं कृपिन तू है री।

बालक श्रीकृष्ण को रम्य रूप-मोहनी से यह गोपियाँ सर्वथा आकृष्ट हैं और श्रीकृष्ण के अनूप रूप को देख देखकर मंत्र-मुग्ध सी हो जाती हैं, उन पर बड़े चाव-भाव से निछावर होती हैं। उनमें केवल वात्सल्य-भाव ही है—वे कृष्ण को अपना प्रिय पुत्र सा ही जानती-मानती हैं। उनमें दाम्पत्य अथवा माधुर्य-भाव नहीं है। वे इसीलिये श्रीकृष्ण के अनूप रूप-सौन्दर्य की भूरि भूरि प्रशंसा करती हैं। उन्हें कृष्ण की मंद मधुर मुसकान और चोरी-चालाकी में स्वाभाविक भोला-पन भी मुग्ध किये रहता है। हाँ वे उलाहना तो लाती हैं किन्तु इसी-लिये कि कृष्ण की माता-ताडित भय-भाव-भरी मुखाकृति और रुदन-विकृति की मनोरमता के देखने का अवसर वे पा सकें।

यसोदा कहँ लौ कीजै कानि–
दिन प्रति कैसे सही परति हैं दूध-दही की हानि।
अपने या बालक की करनी तुम देखौ तौ आनि।

× × × ×

सूरदास ने यह भी इसी प्रसंग में खूब दिखलाया है कि श्रीकृष्ण जब चोरी करने जाते हैं, तब उन्हें गोपियाँ पकड़ लेती हैं और उनको साथ लेकर यशोदा के समीप उलाहना ले जाती हैं तब कृष्ण अपना रूपान्तर कर लेते हैं। कभी बाल-रूप में, कभी किसी गोप-कन्या के रूप में और कभी गोप के रूप में हो जाते हैं।

जसुदा तू कहति है मों सौं।
देख चली जसुदा सुत को तौ, ह्वै गये सुता पराई।
सुन रही सखी कहति डोलति है या कन्या सो कान्है।

× × ×

सूर ने साथ ही यह भी सूचित किया है कि गोपियाँ वास्तव में श्री कृष्ण की मंजु मूर्ति के दर्शनार्थ ही उलाहना लेकर आती हैं :—

'सूर' स्याम की चोरी के मिस है देखन कौ आई।

× × ×

विशेष बात यह है कि गोपी के घर में तो कृष्ण बड़े हो जाते हैं किन्तु यशोदा के आगे वे छोटे से बालक ही रह जाते हैं। कृष्ण बाहर गोपियों के समक्ष बड़े ही चारु-चतुर भाव से मंजु लीला हावादि भी करते हैं:—

देख माई या बालक की बात।
मारग चलत अनीठ करत हरि हठि कै माखन खात।
पीतम्बर लै सिर तैं ओढ़त अंचल दै मुसकात।

× × × ×

जब ही आवत तेरे आगे सकुचि तनक ह्वै जात।
सूर स्याम मुख निरखि जसोदा कहति कहा या बात।

× × × ×

उलाहना देने को तो गोपियाँ देती हैं किन्तु यशोदा के मारने पर वे उन्हें मना भी करती हैं और कृष्ण को बचाती हैं।

बाँधौं आजु, कौन तोहिं छौरै।
साटी लखि ग्वालिन पछितानी विकल भई जँह-तँह मुख मोरै।
सुनहु महरि ऐसी न बूझिये सुत बाँधति माखन-दधि थोरैं।
सूर स्याम हम बहुत सतायो चूक परी हमतें यहि औरे।

× × ×

कहा भयो जो घर कौ लरिका चोरी माखन खायो।

× × × ×

गोपियाँ यशोदा को बताती हैं कि कृष्ण केवल सामान्य बालक नहीं हैं वरन् वास्तव में अखिलेश हरि हैं।

जसोदा तेरौ कठिन हियो है माई।
जो मूरत जल-थल में व्यापक निगम न खोजत पाई।
सो मूरति तू अपने आँगन चुटकी देत नचाई।

× × ×

जसोदा कान्हहु सौं दधि प्यारो।
आरि डारि कर मथत मथानी, तरसत नन्द-दुलारो।
कुंभिलानो मुख-चंद देखि छबि काहे न नैकु निहारो।
ब्रह्म, सनक, सिव, ध्यान न पावत सो ब्रज-गोपन-प्यारो।
सूर स्याम पर बलि बलि जैये जीवन-प्रान हमारो।

× × ×

इसी प्रकार गोपियाँ राधिका की भी भूरि-भूरि प्रशंसा करती हैं और उसे उसी प्रकार चाहती और सराहती हैं, जिस प्रकार वे श्री हरि को।

इनसे अतिरिक्त और भी कितने ही इसी रस में संसिक्त सुन्दर स्थल सूर-काव्य में हैं। इस प्रसंग के पश्चात् उद्धव और कृष्ण का भी थोड़ा सा प्रसंग देखना है। उद्धव कृष्ण भगवान के प्रिय मित्र और ज्ञानी योगी हैं। ज्ञान और योग दोनों भगवान के निर्विकार-स्वरूपांग हैं। चूँकि कृष्ण भगवान ब्रह्म के सगुण-साकार स्वरूप हैं इसीलिये ज्ञानी उद्धव उनके स्नेह-सखा-शिरोमणि हैं किन्तु वे भावना-क्षेत्र से बहुत दूर हैं। भगवान में बोध-वृति और भावनावृति दोनों ही का सुन्दर समन्वय है, एकीकरण है, सच्चा संतुलन है और सुखद सामंजस्य है। इसीलिये अपने प्रेम-पात्र प्रियवर मित्र-मणि उद्धव को भव्य भक्ति-भावना-क्षेत्र-विहारिणी मनोहारिणी गेय गोपिकाओं के समीप भेजकर उन्होंने उनमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सुन्दर समन्वय कराया है। मन की तृतीय इच्छा वृति का कोई प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता क्योंकि ज्ञान के मार्ग में तो योग के द्वारा और भक्ति के मार्ग में प्रेम के द्वारा इच्छा-वृति का पहिले ही सर्वथा शमन कर दिया जाता है।

भक्त और योगी दोनों निपट निरीह निखिल-नायक के ध्यान में मग्न हो स्वतः निरीह या निष्काम हो जाते हैं। क्रिया-विधि में अंतर होते हुए भी जिस प्रकार ज्ञानी योगी निरीहता को प्राप्त होता है उसी प्रकार प्रेमी भक्त भी निष्काम या निरीह हो जाता है। भगवान कृष्ण ने उद्धव को बिना उनसे भक्ति और ज्ञान पर तर्क-वितर्क किये हुये ही केवल संदेशार्थ के व्याज से गोपिकाओं के निकट भेज दिया था, क्योंकि भक्ति-भावना न्याय या तर्क से प्रतिपाद्य नहीं, वह तो

केवल अनुभव की ही वस्तु है निगमन-नीति-साध्य नहीं, जैसा कहा भी गया है—"उर अनुभवित न कहि सक कोई"—तुलसीदास

गोपिकाओं के समीप आकर उद्धव उनकी अनन्य धन्य प्रेममयी भूरि भक्ति और अनन्य कृष्णानुरक्ति को देखते हुये स्तब्ध से हो जाते हैं और भावना की जागृति से उनमें भी भावावेशातिरेक-जन्य आत्म-विस्मृत सी आ जाती है, वे अपना सारा ज्ञान भी भूल जाते हैं।

भागवत में यद्यपि उद्धव को गोपिकाओं के समक्ष निरुत्तर सा करते हुये सर्वथा विजित सा नहीं दिखलाया गया, किन्तु सूर, नन्ददास आदि भक्त कवियों ने उद्धव को उत्तरोत्तर उत्तर-प्रत्युत्तर-प्रवाहान्त में निरुत्तर और मौन करा दिया है, तथा इस प्रकार ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति और प्रेम की कुछ विशिष्ठता प्रतिपादित की है। इसी प्रसंग में गोपिकाओं के अनुपम दाम्पत्य या मंजु माधुर्य भाव के प्रयत प्रभाव को भी प्रधानता देते हुए महत्वपूर्ण बताया गया है। आगे चल-कर इसी प्रसंग में स्वतंत्र रूप से राधिका की परम प्रीति का भी बहुत ही मार्मिक चित्रण किया गया है और आगे आकर यशोदा आदि अन्य गोपिकाओं के बाल्य प्रेम या वात्सल्य की मर्म-स्पर्शिनी विशद व्यंजना भी दी गयी है। वे श्री कृष्ण के लिये उनकी प्रिय वस्तुयें उद्धव के द्वारा बड़े चाव-भाव से भेजती हैं, जिससे उनका अतुल वात्सल्य-भाव प्रगट होता है।

इसी अवसर पर एक मधुप के सहसा वहाँ आ जाने पर गोपि-काओं की जो मार्मिक उक्तियाँ दी गयी हैं वे बड़ी ही चारु चुटीली, विपुल व्यंजना-वलित, कुशल कल्पना-कलित और लालित्य-ललित हैं। अन्योक्ति-पद्धति से सहायता लेकर कुछ फबती हुई उक्तियाँ तो उद्धव पर और कुछ कृष्ण पर चातुर्य-चारुता से चरितार्थ की गयी हैं। स्थूल रूप से इन व्यंग्य-रंग-रंजित सुन्दर सूक्तियों को सामान्य

विचार से इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं:-(१) प्रथम तो वे उक्तियाँ हैं, जिनमें गोपिकाओं की विह्वलता और विकलता के कारण कृष्ण के लिये कुछ मार्मिक प्रेमोपालम्भ-मूलक भाव-प्रभाव है, दूसरी वे उक्तियाँ हैं, जिनमें पारस्परिक सम्बन्ध-साम्य के भाव से कृष्ण के दोषों और तथा-कथित व्यथा-व्यथित व्रज-वनिताओं के विचार से अन्यथाचारों या अनभलों का उपयुक्त युक्ति-युक्त कथन किया गया है। तीसरी वे उक्तियाँ हैं जिनमें कुब्जा के प्रति सभी स्वभाव-जन्य सपत्नीक भावों के साथ ईर्षाद्वैषादि के कारण अपनी विषम विपन्नता और अप्रसन्नता भी प्रगट की गयी है और अपने विषम वियोग-वैधुर्य के साथ दुस्सह दुख का प्रधान कारण उसे ही बताया गया है तथा अपने से कृष्ण के विमुख हो जाने के लिये उसे ही अक्षम्य अपराधिनी ठहराया गया है। इन सब से अतिरिक्त और भी कितने ही प्रकार की रस-संसिक्त, विशद-व्यंजना-वलित, ललित कटु उक्तियाँ भी यथा-स्थान और यथावसर रक्खी गयी हैं। चौथे प्रकार की उक्तियों में उद्धव पर भी सरोष गोपियों के द्वारा दोषारोपण सा कराया गया है और क्रूर-कर्मा अक्रूर के ही समान उन्हें भी किंकरी कुब्जा का सहायक सा दिखला कर अपना अनिष्ट करने वाला कहा गया है।

साथ ही कुछ सूक्तियों में उनके ज्ञान और योग का भी बड़े ही भोले-भाले और सीधे-सादे रंग-ढंग के साथ चारु चातुर्य से एक प्रकार का मृदु मंजुल उपहास सा किया गया है। साथ ही कुछ उक्तियों में उनके ज्ञानोपदेश-तत्व के महा महत्व को भी स्वीकार सा करते हुए अपने लिये उसे उपयुक्त होने पर भी अनुपयुक्त और व्यर्थ सा ही बताया गया है, क्योंकि स्त्री होने के कारण वह ज्ञानोपदेश और योग उनकी बुद्धि और शक्ति के लिये सर्वथा ग्राह्य नहीं है। साथ ही यह भी बड़ी मार्मिकता से कहा गया है कि इस ज्ञानोंपदेश का ग्रहण करने वाला मन वस्तुतः उनके पास ही नहीं, वह श्रीकृष्ण के ही पास है,

अतः वे उद्धवोपदेश के ग्रहण करने की इच्छा रखते हुए भी असमर्थ हैं, अथवा उनके मन हरि के साथ हैं, और अन्य मन उनके पास हैं नहीं, जिनमें वे ज्ञानयोगोपदेश का सन्निवेश कर सकें। फिर सर्व योगेश्वर तो हरि ही है, उन्हीं में तो हम लीन हैं, तब योग की हमें और क्या आवश्यकता है। वे ही ज्ञान की परमावधि-स्वरूप परब्रह्म भी हैं तब ब्रह्म-ज्ञान की भी क्या चर्चा।

उधौ मन नाहीं दस-बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम-सँग, को आराधै ईस।
भई अतिसिथिल सबै माधव-बिनु जथा देह बिनु सीस।
स्वासा अटकि रही आसा लगि, जीवहिं कोटि बरीस।
तुम तौ सखा स्याम-सुन्दर के सकल जोग के ईस।
सूरदास करि रस की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस॥

× × × ×

यहाँ यह भी व्यंजित किया गया है कि ब्रह्म रस-रूप भी है, केवल ज्ञान-स्वरूप ही नहीं, अतः यदि केवल ज्ञान को ही महत्व दिया जाय तो अपूर्णता-दोष होगा, इससे रस (ब्रह्म) की बात भी आपको करनी चाहिये, तब कहीं बात पूरी होगी, और मनको भी पूर्णत्व-बोध होगा। यह व्यंजना "पुरवौ" शब्द से प्राप्त है। इसी प्रसंग में उपयोगिताबाद का भी सुन्दर समीचीन सिद्धान्ताभास बड़ी चतुरता से दिया गया है और कहा गया है कि निर्गुण, निराकार ब्रह्म, ज्ञान और योग में उनके विचार से कम से कम उनके लिये कोई भी विशेष उपयोगिता नहीं है, इसलिए उनके द्वारा यह तीनों ग्रहणीय भी नहीं है। वस्तुतः अपने लिये अनुपयोगी वस्तु का कोई भी मूल्य और महत्व नहीं। कहीं कहीं तो गोपिकायें अपनी तर्क-बुद्धि भी कुछ प्रकट करती हैं, जिससे उद्धव को ज्ञात हो जाये कि गोपियाँ नितांत भोली-भाली ग्वालि-

नियाँ ही नहीं, विद्या-बुद्धि-वारिधि ब्रजेश के सकाश से उनमें भी बोध-बुद्धि और तर्क-शुद्धि है, और कहीं कहीं वे केवल स्त्री-सुलभ अल्पज्ञता तथा भावना-प्रबलता के साथ अपना भोला-भाला स्वरूप ही प्रकट करती हैं।

निर्गुन कौन देस को वासी।
मधुकर हसि समुझाय सौंह दै बूझतिं साँच न हाँसी।
को है जनक, जननि को कहियत कवनि नारि, कौ दासी।
कैसो बरन, भेस है कैसो, को रस को अभिलासी।
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहौगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै ठग्यो सो रह्यो 'सूर' सबै मति नासी।

× × × ×

गोपियों के द्वारा इसी प्रसंग में कृष्ण पर भी असत् प्रेमी, गो-तृष्णा-तृषा-तृषित मृषावादी आदि के होने के लांछन भी बड़ी मार्मिकता के साथ लगाये गये हैं। किन्तु साथ ही अंततोगत्वा यह भी ध्वनित किया गया है कि वस्तुतः वे कृष्ण हैं, अनश्वर ईश्वर हैं, हम उनकी होकर उन्हें यों कहने की अधिकारिणी भी हैं। इसी प्रसंग में एक बड़ी विशेषता यह भी है कि उद्धव केवल गोपिकाओं की ही बातें सुनते रहते हैं और अपने ज्ञानापंथ का सतर्क समर्थन अथवा प्रमाण-पुष्ट, अदुष्ट प्रतिपादन प्रबलता के साथ नहीं करते, वरन् विशेषतया मौन ही से रहते हैं। प्रथम बार जो कुछ थोड़ा सा कथन उन्होंने अपने ब्रह्म-ज्ञान और योग के विषय में किया है बस उतना ही गोपिकाओं को संकेत के रूप में प्राप्त हुआ, बस वही उनके लिये ज्ञान और योग का खण्डन करने के लिये सर्वथा अलभ हो गया है। वे इसी से बस बराबर आगे अपनी ही बात कहती रहती हैं और उद्धव को कुछ और स्वकथन पर प्रकाश डालने का अवकाश ही कदाचित नहीं देतीं।

साथ ही बराबर वे हृदय-पक्ष को ही समक्ष रख कर उद्धव के हृदय में रसोद्दीप्ति करना चाहती हैं, उन्हें तर्क के गहन गर्त में जाने ही नही देतीं। उनमें बराबर समवेदना और सहानुभूति की भावनाओं की ही जागृति कराती हैं। साथ ही उद्धव के ज्ञान-योग-विराग के राग को अधिक सुन कर अपने को उससे कुछ प्रभावित भी नहीं होने देना चाहतीं।

बस अपनी ही तीव्र भक्ति-प्रेम-भावना से प्रभावित करके उद्धव को भक्ति-भावना के क्षेत्र में ही रमाये-विरमाये रहती हैं, अतएव प्रेमा-भक्ति-भावना के प्रभाव से उद्धव अतंतः आत्म-विस्मृत को प्राप्त हो अपनी ज्ञानवत्ता को सर्वथा भूल ही सा जाते हैं। इन सब से पृथक सूर के काव्य में रास-विलास का प्रेम-रस-पूरित प्रसंग एक ऐसा स्थल है, जिसमें आध्यात्मिक (दार्शनिक) मनोवैज्ञानिक और औपासनिक तीनों सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय किया गया है।

इस प्रसंग में जितनी भी गोपिकायें आती हैं,वे सब ऐसी गोपिकायें हैं जो अपने पतियों और घरों को छोड़ कर मंजु मधुर मुरली की मोहनी से समाकृष्ट होकर बलात् खिंची सी चलीं आयी हैं और मंत्र-मुग्ध सी हो कृष्ण के साथ रास-विलास में भाग लेती हैं। इसी प्रसंग से यह भी सूचित किया गया है कि यह गोपिकायें लोक-मय्यार्दा को सर्वथा छोड़ कर कृष्ण के पास आती हैं। रहस्य इसमें सम्भवतः यह है कि भव्य भक्तात्मा अपने भगवान् के निकट तभी पहुँच सकता है जब वह लौकिक-नियम-शृंखला और मान-मय्यार्दा आदि को छोड़कर अपने को लोक-स्तर से ऊपर उठा ले और लोकिक नीति-रीति, मानापमान, व्यवहाराचार का भी कोई ध्यान न रक्खे, और ध्रुव धारणा केवल भगवान के प्रति ही रक्खे। उसके लिये वस्तुतः वही लोक लोक है, जहाँ उसका सर्वस्व है। लोक उसमें है वह लोक में है। बस इस

विचार को प्रधान मानकर वह सभी लौकिक सम्बन्धों और नातों को छोड़कर श्री हरि-चरण-शरण में आत्मसमर्पण करता है।

अब रास को लीजिये। रास की लीला शरत् पूर्णिमा यानी शरद ऋतु में कार्तिक मास की पूर्णिमा की रात्रि में हुई है, दिन में नहीं। कारण इसका यह प्रतीत होता है कि यह सगुण ब्रह्म की मोह-निशा में भक्तात्माओं के साथ होने वाली रुचिर रागात्मक वह ललित लीला है, जिसमें मायामय मन-रूपी चन्द्रमा पूर्ण रूप से प्रकाशमान और विराजमान रहता है और ज्ञान का सूर्य तिरोहित रहता है। साथ ही प्रेम की कान्ति चारु चन्द्रिका के समान सारे संसार में निखरी-बिखरी रहती है और सुखद सरसता की सुन्दर श्याम-श्री-मयी शृङ्गार-धार तरनि-तनूजा के समान प्रवाहित रहती है। तभी इस माया-चक्र में जग-जीव चक्कर लगाते हैं। इस माया-चक्र का केन्द्र वह सगुण ईश्वर ही है, जिसके साथ विश्व-मोहनी योग-माया शक्ति भी रहती है। यही आह्लादिनी शक्ति-रूपा राधिका जी है।

इसी रसमय रास-विलास के प्रसङ्ग में कान्ता-कान्त के मंजु माधुर्य और दाम्पत्य नामक दोनों भाव भी समन्वय रूप से रक्खे गये हैं। राधिका और कृष्ण में तो दाम्पत्य-भाव और कृष्ण तथा अन्य गोपिकाओं में दाम्पत्य भाव से प्रभावित मंजु माधुर्य-भाव ही प्रबल और प्रधान है। यह रसिक-राज का रास-नृत्य वास्तव में प्रकृति और पुरुष के विविध रूपों का कौतुक-कृत्यमय रम्य नर्तन है।

अब इस प्रकार निष्कर्ष-रूप में कह सकते हैं कि सूर के प्रशस्त पावन कृष्ण-काव्य में भक्ति-भाव के प्रायः सभी प्रमुख रूप अनूप रमणीयता से यथावश्यकता यथा-स्थान यथेष्ठ रूपों में सर्वथा सिद्धान्तानुसार आध्यात्मिक पुट रखते हुए भावुक भक्तों के लिये

रक्खे गये हैं। इसी लिये यह काव्य गूढ़ और गंभीर हो गया है। काव्य-कौशल, रसोत्कर्ष और भावोद्दीप्ति के साथ दार्शनिक सिद्धान्तों की विचक्षण व्यंजना इसमें चारु चातुर्य-माधुर्य से रक्खी गयी है। इसमें रस-स्वरूप रसिक-राज श्री हरि की विश्व-विमोहिनी रस-विलास-कला की काम्य कमनीयता का कुतूहलकारक कला-कौशल ललित रूप से सरस-सुमन सदृश कलित है। सूर की सुकविता-लता ऐसे सरस सुमनों से सर्वथा सराहनीय है।

सूर-काव्य में सौन्दर्य-चित्रण

मानव-मन में स्वभावतः प्रत्येक वस्तु के सौंदर्य के देखने और प्राप्त करने की इच्छा सदा बलवती होती है। मनुष्य प्राकृतिक रूप में ही सुन्दरता का चाहने और सराहने वाला है। सौन्दर्य-प्रियता की नितांत नैसर्गिक मनोवृत्ति मानव-मन की अन्य सभी मनोवृत्तियों की अपेक्षा अधिक वलवत्तर, महत्तर और प्रधानतर है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आत्मा उस परमात्मा का एक अंश है, जिसमें सौन्दर्य की चरम सीमा के अतिरिक्त कल्पनातीत असीम सौंदर्य-शालिमा है, जिसमें शोभा-श्री की असीमता और छवि-छटा की अप्रतिमता है और जो सर्वथा सुख-सुषमा-सार का अपार पारावार और सर्व सौंदर्य-गार है, इसीलिये आत्मा अपने उसी मूल सौन्दर्य-तत्व की ओर सदैव सब प्रकार समाकृष्ट होता है। आत्मा में स्वतः स्वभावतः सौन्दर्य-सार और सौन्दर्य-श्री का संस्कार रहता है। इसीलिये वह उसकी प्रेरणा से सदैव सर्वत्र सौन्दर्य-श्री की खोज बराबर ही करता रहता है और साथ ही उसे प्राप्त कर आत्मसात करने की चारु चपल चेष्टा करता रहता है। आत्मा अपने को उसी परम आत्मा में लय करने की सतत इच्छा रखता है, जो उसका मूल उद्गम है तथा उसे पाकर उसी में अपने को लय भी कर देना चाहता है। चूँकि सौन्दर्य-सागर उसी मूल तत्त्व परमात्मा से सम्बन्ध रखता है, अतएव न केवल वह उस परमात्म-रूप सौन्दर्य को खोजता है और उसे पाकर अपने को सफल मानता हुआ प्रसन्न ही होता है, वरन् अपने में अन्तर्निहित उसी अव्यक्त सौन्दर्य-संस्कार के व्यक्त या प्रकट करने का भी पूरा प्रयत्न वह करता है। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य अपने आचार-

व्यवहार आहार-विहार आदि सभी में सौन्दर्य के लाने और देखने का सदैव सब प्रकार पूरा प्रयत्न करता है, चूँकि मानव-आत्मा अन्त-तो-गत्वा उस परमात्मा-रूप सौन्दर्य-सागर का एक अंश या विन्दु मात्र है, कदाचित् इसीलिये प्रत्येक मनुष्य चाहे वह दूसरों की दृष्टि में सुन्दर हो या असुन्दर, अपने दृष्टि-कोण से अपने को देखता हुआ अपने को सदैव सब प्रकार सुन्दर ही मानता है। इसी प्रकार अपने सभी कार्यों, व्यापारों आदि में भी सौंदर्य के लाने की चेष्टा करता है। वह चारों ओर संसार में सौन्दर्य ही को खोजता और उसे ही प्राप्त करने का पूरा प्रयत्न करता है।

सौन्दर्य का घनिष्ट सम्बन्ध स्वभावतः सत्य ज्ञान और आनन्द से है और साथ ही वह सतत कल्याणकारक भी है। यह भी कहा जा सकता है कि सत्य और आनन्द अपने और लोक के लिये कल्याण-कारक ही होता है। सौन्दर्य से प्रसन्नता सौन्दर्य-संकुल वस्तु को ही नहीं मिलती, वरन् उसके सकाश में आने वाली सभी वस्तुओं को भी मिलती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि मनुष्य मात्र में सौन्दर्य-प्रियता की स्वाभाविक मनोवृत्ति सर्वत्र सदैव प्रबलता और प्रधानता से कार्य करती रहती है। इसी मनोवृत्ति के कारण मनुष्य सौन्दर्यो-पासक होकर प्रेमानुरक्ति और भव्य भक्ति की ओर भी झुका करता है क्योंकि सौन्दर्य में एक विशेष प्रकार का दिव्य स्वाभाविक समाकर्षण ऐसा होता है कि मानव-मन वलात् उसकी ओर चला जाता है क्योंकि सौन्दर्य ही ईश्वर, और ईश्वर ही आकर्षण-शक्ति है। वह परमात्मा भी सदैव अपने उस चेतन अल्प अंश को, जिसको आत्मा कहते हैं, आत्मसात करने का विचार करता है, और उसे अपनी ओर बराबर खींचता रहता है। इसी आकर्षण अथवा इससे उत्पन्न होने वाले लगाव को प्रेम कहा गया है, और इस प्रयत प्रेम के कारण मानव-मन में सौन्दर्य के प्रति सेवार्चना आदि की भव्यानुरक्ति

भावना ही भवभय-हारिणी, कल्याण-कारिणी भक्ति है। इसी भक्ति के द्वारा आत्मा अपने मूल रूप परमात्मा को अपनी ओर आकृष्ट करता और उसे अपनाकर उसी में रम-विरम जाता है।

सौन्दर्य दो मुख्य रूपों में देखा जाता है, एक तो सूक्ष्म और स्वाभाविक रूप में और दूसरे स्थूल और कृत्रिम रूप में। स्वाभाविक सौन्दर्य बिना किसी उपकरण के ही सदैव समान रूप से समाकर्षक होता है। यदि इस स्वाभाविक सौन्दर्य को कृत्रिम कला-जन्य सौंदर्य-साधक-साधनों के द्वारा और समलंकृत कर दिया जाय तो रम्यताधिक्य से उसमें और भी अधिक आकर्षण बढ़ जाता है। किन्तु अनुपयुक्त कला-कौशल में कभी कभी वह अपना स्वाभाविक आकर्षण खो भी बैठता है। इसलिये स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों प्रकार के सौन्दर्यों का समुचित समन्वय विवेक-बुद्धि से परिष्कृत कल्पना-कल कौशल की अपेक्षा करता है। इसके लिये चारु चमत्कृत-चातुर्य ही सर्वथा आवश्यक होता है। बिना विमल विवेक-बुद्धि के कृत्रिम कला-कौशल में शुद्धि नहीं आ सकती। यह सत्य है कि स्वाभाविक सौन्दर्य किसी प्रकार के विकार अथवा दोष-दूषण से विकृत और दूषित होकर भी अपनी सुखद चारुता सर्वत्र सर्वथा नहीं छोड़ देता, इसीलिये कहा भी गया है कि:—"सरसिज लगत सुहावनो, यदपि लियो ढकि पंक। कारी रेख कलंकहू, लसत कलाधर अंक॥"

सौन्दर्य के दो रूप और भी होते हैं, एक तो लौकिक रूप कहा जाता है और वह साधारणतया इस संसार में सर्वत्र देखा जाता है और दूसरा सौंदर्य का अलौकिक रूप माना जाता है और लौकिक सौन्दर्य की अपेक्षा अधिक आकर्षक, प्रयत प्रभावशाली, सुखद-स्थायी और वैचित्र्य-पूर्ण रहता है। यह यदा-कदा ही बड़ी कठिनाई से प्रत्यक्षीभूत होता है, इसमें लौकिक सौन्दर्य की अपेक्षा सदाशयता, विमोहनता और दिव्य पवित्रता रहती है।

सौन्दर्य ईश्वर स्वरूप होता हुआ सर्वथा अक्षय और असीम रहता है। कोई भी वस्तु या पदार्थ संसार में ऐसा नहीं जिसमें कुछ न कुछ सौन्दर्य किसी न किसी रूप में कहीं न कहीं न पाया जाता हो, चाहे वह सौन्दर्य नितांत भौतिक या पार्थिव देहात्मक होकर वहिरंग रूप में हो और चाहे मानसिक भाव-भावना के रूप में हो कर अंतरंग हो। वस्तुतः सौन्दर्य ही रस का प्राण है। रस को ही वास्तविक आनन्द भी कहते हैं। वही अंतरंग सौन्दर्य अतएव काव्य का भी प्राण है। इसीलिये काव्य विशेषतया सत्काव्य, जिसका मूल प्रयोजन अथवा उद्देश्य अलौकिक रस या आनन्द को प्राप्त करना है, सौन्दर्य की ही सदा अपेक्षा करता है। कोई भी साहित्यकार अथवा कवि क्यों न हो वह विशेतया सौन्दर्य का ही चारु चित्रण किसी न किसी रूप से अपनी रचना में करता है। वह सर्वत्र सदा सौंदर्य ही को देखना चाहता है क्योंकि मनुष्य स्वभावतः सौंदर्य-प्रिय है, यह दूसरी बात है कि वह सौन्दर्य शब्द-सम्बन्धी अर्थात् भाषा-सम्बन्धी हो अथवा भाव-भावना सम्बन्धी हो अथवा रीति या शैली-सम्बन्धी हो अथवा भावानुभूति सम्बन्धी हो। साथ ही वह सौन्दर्य वास्तविक हो या काल्पनिक हो। सौन्दर्य-प्रियता की नैसर्गिक मनोवृत्ति की प्रेरणा से केवल काव्य-कला ही अनुप्राणित नहीं होती, वरन् संसार की समस्त ललित कलायें भी इसी से जीवन-जाग्रति पाती हैं।

कहना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य सौंदर्योपासक है, क्योंकि उसमें वस्तुतः वह आत्मा है जो सौंदर्यानन्द-स्वरूप परमात्मा का एक अंश मात्र है। इसीसे सौंदर्य का भाव उसमें संस्कार जन्य ही सा रहता है। वह न केवल सौंदर्य-दर्शक, सौंदर्य स्वादक और सौंदर्योपासक ही है, वरन् सौंदर्य स्रष्ट भी है, वह अपने ही तथा अन्य-जन या पदार्थ को भी अपने अनुकूल अभीष्ट सौंदर्य देता है—उसे

भी सुन्दर बनाता है और अपने को उन सुन्दर बनाये हुए पदार्थों के साथ उनके दर्श-स्पर्श से आनन्दास्वाद में लय रखता है।

कवि के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। कवि तो मानवेतर द्रष्टा, सृष्टा और कला-विधायक नर-नायक है। अपनी रचना को वह तब कैसे सौंदर्य-विहीन और दीन-हीन रख सकता है। काव्य में सौंदर्य-के प्राधान्य और कला-कौशल के प्रावल्य का यही मर्म या रहस्य है। कवि अपनी रचना में सब कहीं सौंदर्य के ही लाने की पूरी चेष्टा करता है। रचना के प्रमुख तीन अङ्ग होते हैं :—भाषा, भाव-भावना, और शैली अथवा रचना-रीति, जिसके अन्तर्गत विचार-प्रकाशन-विधि भी आती है। कवि इन तीनों ही अंगों को सर्वांग सुन्दर बनाने का पूरा प्रयत्न करता है। इसीलिये वह भावों या भावनाओं को चारुता देता, तथा उन्हें फिर सुन्दर भाषा में रुचिर-रीति के द्वारा व्यक्त करता है। इसीलिये काव्य कला का रूप ग्रहण कर कवि-कौशल का परिचायक होता हुआ सहृदयों के लिये समाकर्षक और हृदय-हर्षक हो जाता है। फलतः वह लोकोत्तर आनन्द की ओर ले जाने में क्षम होता है।

सौंदर्य की इस संक्षिप्त व्याख्या के पश्चात् यहाँ इसी सौन्दर्य के विविध रूपों का जैसा चित्रण सूर की रचना से मिलता है, उसी की ओर कुछ संक्षेप से अंगुलि-संकेत मात्र किया जाता है। सूर-काव्य में सौंदर्य का कैसा रूप रक्खा गया है, इसे समानतया दिखला चुकने पर इसके उस दूसरे रूप का, जिसका सम्बन्ध सूर काव्य की शैली, भाषा आदि से है, परिचय दिया जायगा अर्थात् सूर के द्वारा वर्ण्य वस्तु-सम्बन्धी सौंदर्य के चित्रण की संक्षिप्त व्याख्या या विवेचना के कर चुकने पर उनकी रम्य रचना-रीति-सम्बन्धी सुखद सुन्दरता का भी यहाँ स्वल्प, किन्तु मार्मिक विवेचन किया जायगा।

वर्ण्य-वस्तु सम्बन्धी सौन्दर्य

सूर-काव्य की वर्ण्य-वस्तु मूलतः भगवान कृष्ण ही हैं, इसलिये उनके सभी सौन्दर्य-रूपों का चारु चित्रण सूर की रचनाओं में पर्याप्त मिलता है। यह अवश्यमेव सत्य है कि सूर ने कृष्ण के शारीरिक और मानसिक सौन्दर्य-रूपों को तो पुष्कल प्रधानता और प्रकाम प्रचुरता दी है किन्तु प्रकृति के सौन्दर्य को प्रायः ही गौण रूप में ही रक्खा है अर्थात् प्रकृति-सौंदर्य का बहुत ही स्वल्प वर्णन किया है। कदाचित इसका कारण यह है कि प्रकृति और उससे उत्पन्न संसार भगवान श्री कृष्ण का केवल स्थूल रूप ही है, जब भगवान का ही सौन्दर्य प्रत्यक्ष है, तब उसके प्रत्यक्ष होते हुए उससे अतिरिक्त उसके प्रति-रूप रूपी विश्व अथवा प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन ही क्या किया जाये। प्रकृति में जो सौंदर्य प्रतिभात होता है, वह उसी का सौंदर्य-प्रतिबिम्ब या आभोस मात्र है। कृष्ण के अंतरंग-सौन्दर्य का जानना यदि असम्भव नहीं तो उसके निकट की अति विकट अप्रकट वस्तु अवश्यमेव है—अतः कृष्ण के आंतरिक सौंदर्य का बस सांकेतिक आभास मात्र ही सूर ने दिया है।

कृष्ण और गोपिकाओं के शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का आध्यात्मिक मर्म भी इसी सौंदर्य-वर्णन में बड़े कौशल के साथ रक्खा गया है। वास्तव में इसे किसी प्रकार छोड़ा भी जा सकता था, क्योंकि भगवान श्री कृष्ण और गोपिकायें दोनों ही अध्यात्म तत्व के ही स्थूल रूप हैं।

भगवान श्री कृष्ण अलौकिक होते हुये भी लौकिक रूप में अवतीर्ण हुए हैं, उनमें लौकिकता और अलौकिकता दोनों के तत्वों का सुन्दर समन्वय हुआ है, इसीलिये उनके आंगिक अथवा शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण लौकिकता और अलौकिकता दोनों के यथेष्ठ

सम्मिश्रण के साथ किया गया है। इसी से इस प्रसंग का काव्य कठिनतर है और सूर जैसे उद्भट कला-कुशल और प्रकाम प्रतिभावान कवि का ही यह काम है। यह बात यद्यपि इतनी अधिक व्रज की कृष्णानुरक्ता गोपियों के सौन्दर्य-चित्रण में तो नहीं है, जितनी कृष्ण-रूपांकन में है। किन्तु इसका उसमें नितान्त अभाव भी नहीं है, इसी लिये कृष्ण और गोपी दोनों के सौन्दर्य-चित्रणों में बहुत अन्तर है। अखिलेश कृष्ण का सौन्दर्य मानव-कल्पनाकृत आदर्श सौन्दर्य से भी बहुत परे है, क्योंकि वह सौन्दर्य सार्वकालीन और सार्वदेशीय होता हुआ भी अलौकिक है और इसी लिये सर्वथा विचित्र है। वह एक रूप रखता हुआ भी क्षण क्षण में विशेष होकर रुचिर रोचकता और भव्यता-नव्यता के द्वारा दर्शकों की विभिन्न रुचिर रुचियों या भावनाओं के आधार पर अनेक रूपों में प्रतिभात होता है। इसी लिये भगवान की सौन्दर्य पूर्ति-मूर्ति के लिये सत्कवियों के द्वारा सदा यही कहा गया है :—

जाकर रहा जहाँ जस भाऊ। सो तस देख्यो कोसल राऊ॥

× × ×

अनेक रूप-रूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।

× × ×

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी।

× × ×

अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान का वास्तविक रूप क्या है, कैसा है और कब, कहाँ है। रूप है भी या नहीं। उसकी रूप-मोहिनी से मुग्ध मनुष्य रूप-विवेचन करे तो कैसे करे। इसीलिये उसके रूप का पूरा वर्णन भी नहीं हुआ—एक ही व्यक्ति चित्त-चांचल्य-प्रभावित स्वरुचि-परिवर्तन-प्रभाव से उसे क्षण क्षण में परिवर्तित रूप

का देखता है। दूसरी बड़ी विशेषता दिव्य सौन्दर्य में यह कही गयी है कि वह सर्वत्र सर्वथा सब के लिये, चाहे वह किसी भी देश अथवा समाज का क्यों न हो, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, बाल या वृद्ध या युवा कुछ भी क्यों न हो समान रूप में रुचिर रोचक और अतुल आकर्षण-मय होता है।

लोकोत्तर दैवी सौंदर्य भी मुख्यतया तीन प्रकार का कहा गया है, प्रथम तो ऐसा ईश्वरीय सौंदर्य, जिसकी कल्पना भी प्रशस्त प्रकाम प्रतिभावनों के द्वारा भी किसी प्रकार नहीं की जा सकती। मानव की कुशल से कुशल कल्पना ने भी जिस आदर्श सौंदर्य की चारु चरम सीमा का विचित्र चित्र बनाया है, वह चमत्कृत चित्र काम अथवा मदन आदि के नाम से विख्यात हैं और इसीलिये काम भी, देव-कोटि में परिगणित हुआ है। यद्यपि वास्तव में वह देव-श्रेणी में नहीं भी आ सकता। यह आदर्शोत्तम कुशल कल्पना-जन्य सुखद सौंदर्य भी उस ईश्वरीय सौंदर्य के समक्ष अल्पात्यल्प है। वस्तुतः ईश्वर-सौंदर्य कल्पनातीत है, इसी से गो० जी ने लिखा है :—

कोटि काम उपमा लघु सोऊ।

× × × ×

कोटि मनोज लजावन हारे ॥

× × × ×

यह ईश्वरीय सौंदर्य ऐसे कमनीय काम के आदर्श सौंदर्य से भी करोड़ों गुना अधिक कहा गया है। भगवान राम और उसी प्रकार श्री कृष्ण के भी कल्पनातीत सौंदर्य का कथन करते हुये कवि-श्रेष्ठ गोस्वामी तुलसीदास तथा सूरदास ने करोड़ों ही काम देवों के सौंदर्यों को भी हरि-सौंदर्य से अत्यल्प दिखलाया है।

कोटि मदन-सौंदर्य उस पर निछावर किया जा सकता है, इससे तात्पर्य यह भी है कि सौन्दर्य-कोटि या चरम सीमा-गत सौन्दर्य साकार रूप काम भी हरि-सौन्दर्य से न्यूनतम है। भगवान राम और कृष्ण दोनों के साकार स्वरूप-सौन्दर्य-रूप का सृजन उनकी ही इच्छा से हुआ है। उसकी विरचना अद्वितीय सौन्दर्य-रचना-कला-कुशल रचना-शक्ति-स्वरूप-विरंचि देव के द्वारा नहीं की गयी है। विरंचि तो उस सौन्दर्य की कल्पना भी नहीं कर सकते, करें भी कैसे, वे तो उसी के अंश मात्र से उत्पन्न हुए हैं। विश्व-विधायक विधि को जो सौन्दर्य सृजन-कला मिली है, वह उसी ईश्वर से मिली है, इसी लिये ईश्वरावतार-स्वरूप राम और कृष्ण उस विरचि-विरचित मनुष्य के समान शरीर लेकर उत्पन्न नहीं हुये, वरन् निज इच्छा-निर्मित तनु लेकर प्रकट होते हुए ही कहे गये हैं।

"निज इच्छा-निर्मित तन, माया गुन गोपाल"

× × ×

"जेहि प्रभु प्रकट, सो अवसर भयऊ"।

× × ×

जग-निवास प्रभु प्रगटे, अखिल लोक विश्राम।

× × ×

भये प्रकट कृपाला, दीन दयाला, कौशल्या हितकारी"—।

× × ×

क्योंकि वे सर्वत्र विभु होकर व्यापक हैं और रहते विश्व से विलग ही हैं। हाँ भक्तों के लिये ही प्रकट होते हैं। ईश्वर की कल्पना में पुरुष-स्त्री भेद मान्य नहीं। अतएव ईश्वरीय-सौन्दर्य भी इस भेद-भाव से परे है। परम प्रभु-प्राकट्य दोनों रूपों में होता है।

देवी उसकी एक विशेष शक्ति-रूपा है। उसके सौन्दर्य-चित्रण में भी न्यूनाधिक रूप से उक्त विशेषतायें मिलती हैं। यदि राम एक ओर कोटि मनोज लजावन हारे हैं "तो दूसरी ओर सीता भी"—सुन्दरता कहँ सुन्दर करई"—हैं।

इसी प्रकार राधिका-रूप-चित्रण में भी विशेषता है। सीता और राधा दोनों के भव-सौन्दर्य से राम और कृष्ण-रूपी हरि विमुग्ध तो होते हैं, किन्तु एक विशेष दशा, अवसर, स्थान और रूप में ही। दोनों ही प्रभु की माया-शक्ति-रूपा हैं। प्रभु माया से परे भी हैं—और है माया-पति भी। दोनों देवियाँ भी राम-कृष्ण पर मंत्र-मुग्ध हैं। हैं सब अंततो गत्वा एक ही, इसी से परस्पर समाकृष्ट हो एकत्व की ओर प्रेम-प्रभाव से चलते हैं। उस प्रेम-प्रभाव से, जो निदानतः ईश्वर-स्वरूप है, जो आनन्द-रूप है और रस-रूप है। राम-सीता और राधिका कृष्ण का प्रणय-सम्बन्ध सर्वत्र, सर्वथा माया-पुरुष के भेदाभेद-सिद्धान्त से चमत्कृत है।

माताओं के गर्भों में केवल उनकी शक्ति ही आयी थी, उसी के लिये कहा गया है कि—"जब ही ते प्रभु गर्भहिं आये"। किन्तु जन्म के समय उनका केवल आविर्भूत होना ही कहा गया है न कि लोक जन सा जन्म लेना। अब इस ईश्वरावतारीय सौन्दर्य की ऊपर कही गई सभी विशेषतायें दोनों राम-कृष्ण के सौन्दर्य-चित्रों में चारुता से दिखलायी गई है। इन विशेषताओं से अतिरिक्त इन रूपों में और भी दूसरी विलक्षण विशेषतायें संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

सबसे प्रथम तो ईश्वरावतार-स्वरूप श्री हरि की मूर्ति के मुख पर लोक-लोकोत्तर आनन्द-लोक अथवा प्रसन्नता सदैव मुस्कान-माधुर्य को लिये हुये विश्व-विमोहनी शक्ति के साथ खेला करती है:—

"प्रसन्नवदनं ध्यायेत् सर्व विघ्नो नपशान्तये ।"

× × ×

मुख पर जिसके है सौम्यता खेलती सी,
वह खनि-सुषमा का मंजु हीर कहाँ है ।

× × ×

मुख पर रहती है रम्यता राजती सी,
अगणित रवि-राका-नाथ भी लाजते हैं ।

× × × ×

लखकर वश होते, विश्व के सर्व प्राणीः—
सब सुख-सुषमा की, है समा साजती सी ।

× × × ×

श्री हरि के इस परम स्मरणीय रूप में किसी भी भावना के कारण कैसी भी विकार-विकृतियाँ क्यों न आ जायें किन्तु वे उस सौन्दर्य की शोभा की वशीकरता को कदापि किंचित भी न्यून नहीं कर पातीं । यही कारण है कि रुदन करते हुये भी भगवान राम और कृष्ण को कौशल्या और यशोदा अथवा अन्यान्य सौभाग्यशाली दर्शक देखते ही रह जाते हैं । इसी प्रकार यहाँ तक भी कहा गया है कि इस सौंदर्य के वशीभूत होकर हिंसक वन्य पशु या जड़ जन्तु भी अपने अकारण अकरुण हिंसा-भाव को, जो उनके लिये स्वाभाविक ही है, पूरा हटाकर इसके उपासक से हो जाते हैं । इसी भाव को दिखाते हुये तुलसीदास जी ने बहुत सुन्दरता से लिखा है ।

तुम आनन्द करहु मृग-जाये, कंचन-मृग ये खोजन आये । इत्यादि

× × × ×

त्यौं तजि आपनी हिंसकता, बन के पसु सीय के पाँय पलोटैं।

× × × ×

ईश्वरीय सौंदर्य से उतर कर देव-सौंदर्य आता है। इस सौंदर्य का वर्णन साहित्य में बहुत अधिक नहीं हुआ, हाँ कहीं कहीं प्रसंग-वशात् कुछ उल्लेख ही हुआ है। केवल भगवान शंकर के सौंदर्य का यत्किंचित चित्रण कहीं कहीं किया गया है। गणेश, ब्रह्म आदि कुछ अन्य देवताओं के भी रूपों का सांकेतिक संक्षिप्त वर्णन करते हुये प्रायः यही कहा गया है कि उनके रूप भी बड़े ही रम्य-रोचक और कलित कान्तिमान हैं। कहीं भी और अधिक विशेषता के साथ उनके रूपों के सौंदर्य का चित्रण नहीं किया गया। यह देव-सौंदर्य भी ईश्वरीय-सौंदर्य का एक प्रकार से प्रतिबिम्ब मात्र ही है, और इसी से उस असीम सौंदर्य के सामने फीका सा ही रहता है, किन्तु लौकिक सौंदर्य की अपेक्षा यह देव-सौंदर्य भी बहुत ही अधिक समाकर्षक और विचित्र होता है। गन्धर्व, विद्याधर, यक्ष, किन्नर वृन्दारकादि देव-कोटि में हैं। इनका रूप-सौंदर्य मानव-सौंदर्य से तो अधिक किंतु देव-सौंदर्य की अपेक्षा बहुत ही हलका सा रहता है।

इसी प्रकार अन्य देव-योनियों के लिये भी यही कहा गया है। राक्षसों और असुरों में प्रकाम काम-रूपता कही गयी है, वे अपनी इच्छा के अनुसार अपने सौंदर्य की कल्पना करके उसे प्रत्यक्ष कर देते हैं, किंतु वह कल्पित सौंदर्य सर्वथा असत्य, अस्थायी और भ्रमात्मक रहता है, वह केवल विचार-जन्य और माया-कृत ही है। उसमें केवल अज्ञानियों को ही विमोहित कर सकने की क्षमता रहती है, और वह क्षणिक रहता है, उसमें तमोगुण की ही विशेष प्रधानता रहती है। इस प्रकार के सौंदर्य का वर्णन गो० तुलसीदास ने सूर्पनखा के माया कृत रम्य रूप और सूरदास ने पूतना के माया-कृत रूप के दिखाने में किया

है। यह सौन्दर्य केवल क्षणिक और भ्रमात्मक ही होता है। अतएव असुरादि का ऐसा दिखावटी सौन्दर्य अपना पृथक स्थान रखता है।

वास्तविक मानव-सौन्दर्य का वर्णन साहित्य में प्रायः बहुत ही कम किया जाता है। साधारण नायक और नायिका के सम्बन्ध में प्रायः कल्पना-जन्य एक आदर्श सौन्दर्य ही कवियों के द्वारा चित्रित किया गया है। इस की प्रमुख विशेषतायें कोमलता, स्निधता, लावण्य और मधुरता है। यह सौन्दर्य सर्वथा स्थायी न होकर केवल बाल, और युवा अवस्था तक ही चलता है। साथ ही यह सब के लिये सब स्थान और समय में समान रूप से समाकर्षक और विमोहक नहीं होता, वरन् विशेषतया जल-वायु, स्वास्थ्य, चिन्तादि के प्रभावों, समय या अवस्था आदि से प्रभावित होकर परिवर्तित होता रहता है। किसी समय और किसी स्थान पर तो वह एक को यदि सुन्दर प्रतीत होता है, तो दूसरे को वैसा सुन्दर अन्यत्र नहीं लगता, इसी प्रकार विभिन्न अवस्थाओं और दशाओं में भी यह सौन्दर्य समान रूप में नहीं पाया जाता। मुस्कान के साथ यदि इसमें रम्यता रहती है तो रुदन के कारण इसमें भद्दापन आ जाता है। कभी कभी मुसकान के साथ भी यह अरोचक हो जाता है। सामुद्रिक शास्त्र ने यह बतलाया है कि जो सौन्दर्य भावनाओं के प्रभावों से विकृत न होकर सर्वदा सर्वत्र सब अवस्थाओं में समान रूप से समाकर्षक रहे वह अति ऐश्वर्य और सौभाग्य को सूचित करता है। आयुर्वेद ने भी ऐसे ही सौन्दर्य को आरोग्य का सूचक माना है। स्वस्थ शरीर का सौन्दर्य ही वास्तविक सौन्दर्य है, ज्योतिष के विचार से शनि, राहु आदि क्रूर ग्रहों के प्रभाव से प्रायः सौन्दर्य में अनीप्सित विकार आ जाता है और चंद्र, गुरु, शुक्र आदि के प्रभाव से रूप-सौन्दर्य बढ़ता है।

रूप-सौंदर्य के दो प्रमुख प्रकार यों कहे गये हैं, अर्थात् पुरुष-सौंदर्य और स्त्री-सौन्दर्य। दोनों में ही अपनी अपनी विशेषतायें रहती हैं और

दोनों ही एक दूसरे से उन्हीं विशेषताओं के कारण पृथक भी हो जाते हैं। मुख्य गुण दोनों में ही लगभग समान ही से रहते हैं, जैसे सुकुमारता, मधुरता, लावण्य, कान्ति, स्निग्धता और विमोहकतादि दोनों में ही रहती हैं। हाँ, कुछ विशेषतायें पुरुष में और कुछ विशेषतायें स्त्री में रहती हैं। वे विशेषतायें अपनी पृथक महत्ता रखती हैं। दोनों एक दूसरे के लिये विमोहक और आकर्षक होते हैं। यह भेद प्रायः सभी प्रकार के सौन्दर्य में रहता है। सम्भवतः इसी विचार से ईश्वरावतार के साथ उसकी शक्ति का भी कथन किया जाता है, अर्थात् विष्णु के सौन्दर्य के साथ ही श्री के सौन्दर्य का भी उल्लेख होता है। देव-सौन्दर्य के साथ देवी-सौन्दर्य का भी वर्णन किया गया है। ईश्वरावतार राम और कृष्ण की सुन्दर मूर्तियों के समक्ष भगवती जानकी और भगवती राधिका की भी मोहनी मूर्तियों का परम रमणीक वर्णन गोस्वामी तुलसीदास और भक्तिवर सूरदास के द्वारा किया गया है।

इन दोनों मूर्तियों का सौंदर्य भगवान के सौंदर्य के ही समान केवल तदेच्छा-निर्भर तथा तद्विचार-जन्य होता हुआ असीम और अप्रतिम अथवा अनन्य है। इतना अवश्यमेव ठीक है कि इस सौंदर्य का तो कोई विशेष प्रभाव भगवान पर नहीं पड़ता, किन्तु भगवान के सौंदर्य का पूर्ण प्रभाव इस सौंदर्य पर अवश्यमेव पड़ता है। इसे इस प्रकार कहना चाहिये कि भगवान के ही सौंदर्य का प्रतिबिम्ब इस सौंदर्य में रहता है। जानकी की सुन्दर मूर्ति लोकाभिराम भगवान राम के मन को तो कुछ लुभाती है किन्तु उनकी प्रकृष्टात्मा पर वह अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल पाती। इसी प्रकार राधिका जी की भी सौंदर्य-शालिमा श्रीकृष्ण चन्द्र को सर्वथा अपने वश में नहीं कर पाती। हाँ लौकिक लीला करते हुए भले ही उनका मन उससे कुछ प्रभावित हो जाता है, किन्तु विपरीत इसके श्रीराधिका कृष्ण के अनुपमेय रूप-

सौन्दर्य को देख कर मंत्र-मुग्ध सी होती हुई उनको अपने सुखद सौन्दर्य से प्रभावित करने का विचार छोड़ कर उनकी सुषमा-श्री से ठगी सी होकर रह जाती है। इस प्रकार भगवदावतारों की मनोरम मूर्तियों के सौन्दर्य की अनुपमेयता, अनन्तता, अक्षयता और अलौकिकता का उल्लेख किया गया है।

अब मानव-सौन्दर्य आता है। इस मानव-सौन्दर्य के भी दो भेद कहे गये हैं :—प्रथम है शुद्ध अर्थात् केवल मनुष्य से उत्पन्न होने वाले मनुष्य का सौन्दर्य-रूप और दूसरा है मिश्रित अर्थात् मनुष्य और देवादि के पारस्परिक सम्पर्क से उत्पन्न सौन्दर्य-स्वरूप। जैसे देव-बधूटी से उत्पन्न शकुन्तला का सौन्दर्य। इन दोनों सौन्दर्यों की श्री और शालिमा में भी बहुत बड़ा अन्तर रहता है। लौकिकालौकिक भेद तो रहता ही है।

आयुर्वेद मानव-सौन्दर्य को माता और पिता की इच्छाओं आदि के प्रभावों से ही सर्वथा प्रभावित मानता है और यह बताता है कि स्वेच्छानुसार सुन्दर बालक का जन्म माता और पिता के द्वारा हो सकता है। इसके साथ ही वह मानवीय सौन्दर्य क्रमशः विकसित हो कर ह्रास और क्षयता की ओर चलता है तथा रोगादि के कारण विकृतावस्था को भी प्राप्त होता है। इस सौन्दर्य के विवर्धक कतिपय साधनों का भी निर्देश वह करता है।

उक्त जानकी और राधा के सौंदर्य-स्वरूपों का चित्रण करते हुये बराबर सत्कवियों ने उन्हें कवि-कल्पनातीत और विरंचि-विरचना-कौशल की इयत्ता से भी अतीवाधिक बतलाया है। गोस्वामी तुलसी दास ने लिखा है :—जनु विरंचि सब निज निपुनाई, 'विरंचि विश्व कहँ प्रगट दिखाई।" साथ ही प्रायः यह भी कहा है कि इस सौंदर्य को समझाने के लिये संसार में कोई भी उपयुक्त उपमान नहीं मिलते

यथा--"रूप अनूप बतैयै कहा, जगती में कहूँ उपमान न पैये"— इससे यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि किसी भी प्रकार इन सौंदर्यों का कथन या चित्रण किया ही नहीं जा सकता। भाव यह है कि लोकेतर सौंदर्य पूर्णतया वर्णनातीत है, यह अनिर्वाचनीय तथा परम सौभाग्य से अलोकनीय सौंदर्य है और केवल ईश्वरीय सौंदर्य का प्रतिबिम्ब मात्र ही है और उसी की कमनीय कल कान्ति से कान्तिमान सा होकर शोभा-श्री प्राप्त करता है। जगज्जननी जानकी और जग-जन-साध-साधिका राधिका के सौंदर्य लोकोत्तर होकर भी भगवान के अनन्ताप्रतिम सौंदर्य के केवल प्रतिबिम्ब मात्र ही है।

कवि ने कहीं कहीं वाक्कौशल के रूप में जानकी और राधिका के दिव्य सौंदर्यों को समान भी दिखलाया है, किन्तु प्रायः राम और कृष्ण के सौंदर्य को ही महत्ता दी है। हाँ, यदा-कदा प्रायः उन्हें उपास्या मानकर राम-कृष्ण के सौंदर्य की अपेक्षा इन्हें किंचित् विशेषता भी दी है। गो० तुलसीदास ने इसी प्रकार लिखा है :--

"गरब करहु रघुनंदन, जनि मन माँहिं।
देखहु आपनि सूरति, सिय कै छाँहिं।" ब० रा०

× × × ×

इसी प्रकार कहीं कहीं राधिका जी को रूप-गर्विता नायिका के समान चित्रित करते हुये कवियों ने उनके रूप-वर्णादि के सौंदर्य को कृष्ण के सौंदर्य से कुछ अधिक भी दिखलाया है, जिससे कृष्ण का उनके रूप पर मुग्ध होना सार्थक हो सके। राधिका को तो अपने रूप का कुछ गर्व है, किन्तु सीता को नहीं। सम्भवतः यह गोस्वामी जी के द्वारा उनमें दास्य भाव की प्रधानता के दिखलाने का फल है। राधिका का स्वरूपाभिमान तनिक इस प्रकार देखने को मिलता है।

"साँवरे सौं मिलि ह्वै हैं न साँवरी,
बावरी सीख दई यह कौने,

इससे यह भी व्यंजित किया गया है कि श्री हरि राधिका के रूप-गर्व को अन्यथा करते हैं और उन्हें चेतावनी सी देते हैं कि यह स्वरूप-गर्व तेरा केवल प्रमाद है—तू अविद्या माया-वशात् यों सोचती है—वस्तुतः बात यह नहीं है—तू तो कसौटी है, मैं हिरण्य या सुवर्ण हूँ—(ईश्वर हिरण्य-गर्भ है) मेरा रंग तुझ पर चढ़ता है, तेरा रंग (प्रभाव) मुझ पर नहीं आता—

"सोने को रंग कसौटी लगै पै कसौटी को रंग लगै नहिं सोने"—

उसी पर "गिरा अनयन नयन बिन बानी", की पंक्ति सर्वथा चरितार्थ भी होती है। जानकी के सौन्दर्य का वर्णन करते हुये गो॰ तुलसीदास ने कवि-कल्पना की यद्यपि एक प्रकार से इति-श्री सी ही कर दी है, फिर भी उसे रम्य रामानूप रूप-सौंदर्य से न्यूनतर ही व्यंजित किया है। उनका इस भाव-व्यंजन में चित्रण-चातुर्य और कथन-कौशल सर्वथा सराहनीय है।

"जो छबि सुधा-पयोनिधि होई, परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु, मंदर शृंगारू, मथइ पानि-पंकज निज मारू।
यह बिधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख-मूल,
तदपि संकोच समेत कबि, कहहिं सीय-सम तूल।

× × ×

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छबि-गृह दीप-सिखा जनु बरई।" रा॰ च॰मा॰

× × ×

उक्त दोनों प्रकार के सौंदर्यों में एक अन्तर यह बहुत बड़ा है कि ईश्वरीय सौंदर्य क्षण क्षण में नव्य-भव्य होता रहता है और अधिक

बारीकी से देखने पर और भी अधिक निखरता-बिखरता जाता है। इसी विचित्र विशेषता के कारण यह अलौकिक और अकथनीय भी कहा गया है। कहा गया है कि—"ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों नई निखरै सी निकाई"—इस दिव्य सौंदर्य को देखकर फिर विश्व में अन्य किसी भी सौंदर्य के देखने की कोई भी आकांक्षा कदापि नहीं रह जाती और न इसके देखने से कभी किसी को संतोष ही प्राप्त होता है, वरन् दर्शनोत्कंठा बराबर बढ़ती ही जाती है। मन न तो ऊबता ही है और न इसमें उससे कभी कहीं किसी भी प्रकार की विकृति ही दीखती है, और इसमें कहीं किंचित भी इसे देखकर कोई कमी भी नहीं दिखलायी पड़ती है। इसके वशीभूत सभी नर-नारी, ऋषि-मुनि सुर-असुर, चर और अचर आदि हो जाते हैं। इसका सत्य सौंदर्यालोक वस्तुतः साधारण दृगों और दृष्टि से देखा भी नहीं जा सकता। यों तो देखने को सभी इसे देखते हैं किन्तु वास्तविक रूप से इसके देखने को दिव्य दृष्टि की ही आवश्यकता है। यह दिव्य सौंदर्य सार्वकालीन, सार्वदेशीय और सार्वजनीन होता हुआ भी एकान्त स्थायी सा होकर रहता है।

यह ईश्वरीय सौंदर्य केवल एक देशीय अथवा एकांगी होता हुआ मुख्यतः कहीं सीमित नहीं रहता, वरन् प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में व्याप्त रहता है और एक अंग से दूसरे अंग का सौंदर्य और भी अधिक रुचिर तथा रोचक प्रतीत होता है तथा शरीर की प्रत्येक आकृति और विकृति को सुंदर ही बनाये रखता है, इसके लिये यह नहीं कहा जा सकता कि नेत्र तो बहुत सुन्दर हैं—किन्तु कान कुछ कम हैं। इसी लिये अंग-प्रत्यंग के वर्णन करने की इसमें विशेष आवश्यकता होती है। यहाँ तक कि एक एक केश परम रम्य रहता है। इसमें ऊपरी विशेषता यह और है कि यह प्रत्येक दर्शक की स्वतंत्र सुरुचि, कल्पना और इच्छा के ही अनुकूल दिखलाई पड़ता है इसीलिये इसका सत्यरूप

सर्वथा अनुभूत न होकर अकथनीय हो जाता है। इसकी भयानकता में भी सौन्दर्य-शोभा-श्री बराबर बनी ही रहती है। इसीलिये श्री राम और श्रीकृष्ण की मूर्तियों को सर्वत्र सर्वदा सब ने निज निज भाव-भावना तथा रुचि के ही सर्वथा समनुकूल देखा है। इसी विचार से गो० तुलसीदास ने लिखा है—

"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी।"

× × ×

जाकर रहा जहाँ जस भाऊ, सो तस देख्यौ कौसल-राऊ।

× × ×

नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज मति-अनुरूप।
जनु सोहति सिंगार धरि, मूरति परम अनूप—रामा०

× × ×

सौन्दर्य के इस संक्षिप्त और सांकेतिक वर्णन से, आशा है, सूरदास के सौन्दर्य-वर्णन-विधान के समझने में बहुत-कुछ सुविधा हो जायगी। यद्यपि यहाँ केवल उदाहरण के रूप में ही उसकी ओर केवल कुछ संकेत मात्र ही किया जा रहा है। यहाँ अपने प्रसंग से पहिले यह और कह देना उचित प्रतीत होता है कि सूर और तुलसी जैसे महात्मा कवियों ने अपने काव्यों में सौन्दर्य के वर्णन करने में केवल कवि-कल्पना से ही काम नहीं लिया वरन् धार्मिक, आयुर्वैदिक, सामुद्रिक और ज्योतिष के सिद्धान्तों के आधार पर भी सौन्दर्य के समीचीन चारु चित्रण का प्रयत्न किया है। यह वस्तुतः यहाँ इस समय सम्भव नहीं है कि इनमें से प्रत्येक सिद्धान्त के आधार पर सूरदास-कृत सौन्दर्य-वर्णन पर पूरा प्रकाश डाला जाये, इसीलिये केवल संक्षेप में ही कुछ थोड़ा सा कथन कर दिया जाता है। वास्तव में यह विषय तो एक स्वतंत्र पुस्तक में ही व्यक्त करने के योग्य है।

भगवान श्री कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन किसी एक ही स्थल विशेष पर ही नहीं वरन् यथावश्यकता कई स्थानों पर सूरदास ने किया है। सब से प्रथम उनके शैशव रूप में उनके असीम दिव्य सौन्दर्य का प्रथम प्रशस्त आभास दिया है। जन्म से ही श्री कृष्ण की मधुर मूर्ति पर उनकी विश्व-मन-मोहनी बराबर नृत्य सा करती रहती है, जिस के कारण नंद और यशोदा तथा अन्य व्रज-गोप-गोपिकायें कृष्ण को एक अनुपमेय बाल-रत्न मान कर अपना सर्वस्व समर्पित कर बैठती हैं। व्रज की सभी स्त्रियों को शिशु कृष्ण पूर्णरूप से आत्मीय और अपने ही शिशु से लगते हैं। कृष्ण की इस मंजु मूर्ति का वर्णन करते हुये सूरदास ने यह भी दिखलाया है कि उन्हें दृग्दोष से बचाने के लिये यशोदा जी उनके सुन्दर भौंहों और कपोलों पर कज्जल के दिठौने लगा देती हैं, जिससे उसके कलूटे मुख को कोई बड़े चाव-भाव से एकटक न देखे, और कज्जल-कालिमा से कलित शिशु-कृष्ण का ललित मुख-मंडल विकृत सा हो कर दर्शकों के दुर्बल मनों को दूषित न करे और उनकी दृष्टियों से कृष्ण को कहीं किसी प्रकार की कोई क्षति न पहुँचे, किन्तु उनके ऐसा करने का फल विपरीत ही सा होता है, दिठौनों के लग जाने से कृष्ण-मुख का सौन्दर्य और भी अधिक दर्शक-हृदय-हर्षक, सौम्य समाकर्षक और विमोदवर्धक हो जाता है। जैसा पहले कहा जा चुका है कि ईश्वरीय सौंदर्य को कोई भी विकार किसी प्रकार कदापि कुछ बिकृत नहीं कर सकता, फिर भी अल्पज्ञता-वशात् ही यशोदा जी लोक-परम्परागत दृग-दोष-निवारक विधानों का प्रयोग करती ही हैं। इसी कारण वे कृष्ण के गले में अरोचक कठुला, केहरि-नख आदि भी डाल देती हैं। सूर ने लिखा है :—"कठुला कंठ, वज्र, केहरि-नख राजत रुचिर हिये।" किन्तु कृष्ण-सौंदर्य से ये अरोचक वस्तुयें भी रुचिर-रोचक हो श्याम-सुन्दर के और भी सौन्दर्य-साधक तथा वर्धक हो जाती हैं।

नैसर्गिक बाल-प्रकृति के अनुसार कृष्ण जब-कभी कछु रुदन भी करते हैं (जैसे भोजन में मिर्च के खा लेने तथा उलाहने पाकर यशोदा के द्वारा ताड़ित होने पर) तब उनका मंजु मुख-मंडल बिकृत होता हुआ भी वैसा ही विमोहक और छविमान बना रहता है। इतना ही नहीं वरन् उसमें उस समय सामान्य समय से भी और अधिक विचित्र विशेषता आ जाती है, वह और भी अधिक रुचिर-रोचक हो जाता है। न केवल हास-विलास ही उनके मुखारविन्द को सुन्दर कर देता है वरन रुदन भी उसे विशेष प्रकार की रोचक-रुचिरता प्रदान करता है। साधारणतया कृष्ण अन्य लौकिक बालकों के समान स्वभावानुसार रोते हुये नहीं दिखलाये गये। उनका रुदन प्रायः ताड़ित होने पर ही होता है और मनो-मोहक होने के कारण वह सब को अति प्रिय भी लगता है। यही प्रियता और मनो-मोहकता किसी भी व्यक्ति पर उनको स्पष्ट भी नहीं होने देती। यशोदा भी रुष्ट होकर उनकी सभीत रुदनाकृति-मूर्ति देख, मन में मुदित हो जाती हैं और उनमें रोष के स्थान पर वात्सल्य-भाव उदित हो जाता है।

कृष्ण के बाल-रूप का चित्रण करते हुये सबसे प्रथम उनके गभुआरे केशों के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है—गभुआरे केश वे कहलाते हैं जो बच्चों के गर्भ से ही आते हैं, इनमें स्वभावतः विशेष कोमलता, स्निग्धता और श्यामता रहती है। यह केश किंचित कुंचित और कलित-ललित होते हैं। श्रीकृष्ण के केशों के विषय में तो कहना ही क्या है, वे केश जब कृष्ण के मुख पर वायु आदि से प्रेरित होकर आ जाते हैं तब उनके कारण हरि-मुख-सौंदर्य और भी अधिक बढ़ जाता है। इसके उपरान्त कुछ बड़े होने पर चूड़ा-कर्म के पश्चात् कृष्ण के काक-पक्षों का भी सुंदर वर्णन किया गया है और इस प्रकार के केशों का वर्णन कृष्ण की युवावस्था तक बराबर होता आया है और सदैव कृष्ण के रेशम से रम्य कुंचित कुंतल या केश घुँघराले ही

कहे गये हैं। सामुद्रिक शास्त्र ऐसे केशों को परम विशद शुभ कहता है। इस प्रकार के केशों से बनी हुई ललित-लोल लटों का भी विशद विमोहक वर्णन परम्परानुसार बराबर ही काव्य में किया गया है। "वदन सलोनी लट लटकति आवै हैं —" रत्ना०

केशों के पश्चात् कृष्ण के मंजु मुख-सौन्दर्य के प्रसंग में लिखते हुये सब से प्रथम मुख-कान्ति चारु चन्द्र-कान्ति या कलित कौमुदी से भी अधिक दिखलायी गयी है। यह मुख-कान्ति आरोग्य और ऐश्वर्य-सूचक है। इस कान्ति के साथ कृष्ण का सारा मुख-मंडल चन्द्र और अरविन्द से ही प्रायः उपमित किया गया है। यह भी स्मरणीय है कि कृष्ण का वर्ण श्याम है फिर भी उनके श्याम मुख को चन्द्र और अरविन्द सा बताया गया है। चन्द्र तो उसे कहा गया है इसलिये, कि वह मुख-मंडल मण्डलाकार है, कलित कान्तिमय और माधुर्य रस-युक्त है। उसे अरबिन्द इसलिये कहा गया है चूँकि उस पर सदैव अम्लान विकास और प्रफुल्लता के साथ ही सौकुमार्य और नूतनता (ताज़गी) रहती है, और साथ ही एक विशेष प्रकार की आर्द्रता या जल-संसिक्तता (सरसता) और स्निग्धता सी छाई रहती है। इसके उपरान्त नेत्रों को कलित कमलों से उपमित करते हुये सदैव भावपूर्ण सरस और दिव्य ज्योतिमय बताया गया है तथा मधुपाच्छादित पंकजों से उनकी तुलना की गयी है। सुप्तावस्था में उनको मुकुलित रहता हुआ दिखलाया गया है और जाग्रत अवस्था में उनकी दृष्टि मन के भी भीतर तक प्रवेश करने वाली और बहुत ही पैनी कही गयी है। इनके ऊपर धनुषाकार कोमल भ्रुकुटियाँ बतायी गयी हैं। वस्तुतः यह सब वर्णन सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार ही है और ऐश्वर्य, सौभाग्य और अभ्युदय का सूचक है। इन विशेषताओं के साथ पलकों का वर्णन अवश्यमेव स्पष्टतया नहीं किया गया। इसी प्रकार नासिका का भी वर्णन अल्प ही किया गया है। सूरदास ने कृष्ण की नासिका के लिये

कवि-परम्परानुसार विशेषतया कीर या शुक को ही उपमान के रूप में लिया है। तदनन्तर मुख को मंद मुस्कान के साथ विकसित कमल से उपमित करते हुये मधुराधरों के साथ दन्तावलि की उज्वल कान्ति से मुख को कलित कहा है।

शैशव काल में आयुर्वेदानुसार शिशु के ऊपर वाले दो दाँतों का प्रथम निकलना उचित तथा शुभ है। अतः कृष्ण के प्रथम इन्हीं दो दाँतों का निकलना वर्णित हुआ है और इन्हीं की छवि-छटा का वर्णन किया गया है। आगे चल कर अवश्यमेव दन्तावलि का कोई विशेष वर्णन नहीं किया गया, हाँ व्यापक रूप में दीप्त दन्तावलि की सौम्य सुषमा-श्री का उल्लेख अवश्यमेव हुआ है। अधरों को बहुत ही माधुर्य-रस-युक्त या पीयूष-पूरित बताया गया है। वस्तुतः अधरों की रुक्षता सामुद्रिक-शास्त्र में अशुभ मानी गयी है। अधरों को पतला, स्निग्ध, अरुण और सुकोमल होना चाहिये, अन्यथा वे अशुभ होंगे। यद्यपि अधरों के आकार-प्रकार का कोई विशेष उल्लेख तो कहीं नहीं किया गया, तथापि उनकी मधु-रसमयता पर विशेष बल दिया गया है। गो० तुलसीदास ने राम के चारु चिबुक का भी कुछ वर्णन किया है किन्तु सूरदास जी ने लिखा है कि चारु चिबुक-सुविकसित है और प्रायः मुखाकृति से विकृत होकर भी सुन्दर होता है, ऐसी विशेषता उन्होंने दी है कपोलों को। सामुद्रिक में कपोलों में बातचीत करते और मुस्कराते हुये कुछ ललित लोलता का रहना शुभ लक्षण है। उनमें यदि हँसने पर गढा पड़ जाये तो शुभ-सूचक है। इसके अनन्तर कानों और उनमें लसित-कल कुंडलों का तो विशेष अलंकृत वर्णन मिलता है, किन्तु कर्णों के आकार-प्रकार आदि पर कहीं कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला गया।

मुख के पश्चात भगवान की ग्रीवा और उनके स्कंध-देश आदि का वर्णन भी सांकेतिक रूप में ही प्रायः किया गया है। राम की भी ग्रीवा आदि का सूक्ष्म वर्णन गो० तुलसीदास ने भी अच्छा किया है।

अन्य कवियों ने कृष्ण की मुस्कान का वर्णन अवश्यमेव बहुत ही अधिक किया है। मुस्कान होती भी अति मनोरम है, फिर यह हरि-मुस्कान तो अति मधुर, मंजुल और लोचन-सुखद है, साथ हीं अत्यन्त विमोहक भी है। एक बार देख लेने पर यह कदापि भुलाई नहीं जा सकती। यह मुस्कान भी हृदय के अनेक भव्य और नव्य भावनाओं को बिना किसी प्रकार के शब्द के ही सुव्यक्त कर हृदय को हर्षित और समाकर्षित करने में सतत क्षम है। भगवान की मुस्कान में महा मोहिनी है; इसके समक्ष अति दक्ष बुद्धि भी अपनी विशुद्धि खो बैठती है। गो० तुलसीदास जी ने लिखा है :—

उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसकाना, चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै"

× × ×

आली री वा मुख की मुसकानि बिसारी न जैहै न जैहै न जैहै।

× × ×

राम ने जब देखा कि माता ज्ञान के मार्ग में जा रही हैं, और अभीष्ट वात्सल्य-प्रेम को छोड़ रही हैं, तब मुसकुराये, बस ज्ञान गया और—

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा"
कीजै सिसु-लीला अति प्रियसीला, यह सुख परम अनूपा"

× × ×

यद्यपि श्री हरि के समस्त मयंक-मुख-मण्डल पर मंजुल-मधुरिमा की गेय गरिमा-महिमा सदैव खेलती हुई कही गयी है, तथापि सर्वत्र अंग-प्रत्यंग पर ललित लावण्य भी लसा-बसा हुआ है। यह लावण्य एक प्रकार का क्षार है। लावण्य अथवा लुनाई वास्तव में शरीर के भीतर से चलकर ऊपर की त्वचा पर आकर रम जम जाता है और

उसके कण प्रकाश पाकर एक विशेष प्रकार की कमनीय कांति पैदा करते हैं। इसीलिये इस लवण या क्षार के न रहने या न्यून होने से त्वचा का वर्ण फीका और रूखा हो जाता है। यह लावण्य अथवा लुनाई केशों आदि में भी कही गयी है।

आगे चलकर श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल का कोई विशेष वर्णन सूर और दूसरे कवियों ने भी नहीं किया। केवल भृगु-पद-लांछन के साथ कुछ सांकेतिक वर्णन अवश्यमेव कहीं अवसर पाकर किया है। इसी के पश्चात् उर-गत रोम-राजी और उदर पर पड़ने वाली त्रिवली (तीन रेखाओं) का वर्णन भी संक्षेप से ही किया है। दोनों ही सुख-सौभाग्य-सूचक हैं। तदनन्तर हरि के चरणों का वर्णन हुआ है। साथ ही प्रायः श्री हरि के अंग-प्रत्यंग के वर्णन में उनके विशेष विशेष आभूषणों का भी यत्र-तत्र कुछ कथन किया गया है। भगवान श्री कृष्ण के पीताम्बर का उल्लेख सूर और दूसरे कवियों ने भी बहुत अधिक किया है। इसी प्रकार उनके मंजु मोर-मुकुट, वन-माला, मणि-माल और गुंजा-माल का भी चारु चित्रण हुआ है। बालकृष्ण के चरणों में पैजनी और कटि-तट में किंकिणी अथवा क्षुद्रघंटिका तथा इनके मधुर मनो-मोहक कलरवों का भी उल्लसित उल्लेख किया गया है। इसी के साथ बालकृष्ण की पद-गति अथवा चरणों की चाल को भी बहुत ही विमोहक सा दिखलाया गया है। कृष्ण का शारीरिक सौन्दर्य उनके दिव्य शरीर के रेणु-मंडित या धूल-धूसरित होने पर भी कदापि कुछ भी फीका नहीं पड़ता वरन् और भी वह अधिक बढ़ जाता है। यह धरा-धूलि की धन्यता है कि श्री हरि के शुचि शरीर का स्पर्श उसे मिला है। सूर ने भगवान के घुटनों के बल चलने और फलतः शरीर के धूल-धूसरित होकर परम सुशोभित होने का रम्य रुचिरता के साथ चित्रण किया है।

घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये।

× × ×

राधिका के रूप-सौन्दर्य का उतना विशद वर्णन तो नहीं है, जितना श्री कृष्ण के सौन्दर्य का है। राधिका अपने सौन्दर्य को भूलकर श्रीकृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य से सर्वथा विमोहित और विमुग्ध बनी रहती है। हाँ, प्रथम पूर्वानुराग के समय राधिका उनके घनश्याम वर्ण को अवश्यमेव कुछ हेय सा कहती हैं, यद्यपि इस कथन में तथ्यता नहीं, वे मन में उससे ही मुग्ध हैं। हरि भी उन पर मुग्ध हैं, उनको वे ऐसा केवल प्रेम-परिहास-विलास-वशात् ही ऊपर से कहती हैं। अपने वर्ण को सुवर्ण या कंचन और दामिनी के वर्ण का बताते हुए सगर्व श्लाध्य और कमनीय कहती हैं। कुछ कवियों ने तो राधा में स्वरूपाभिमान का भी भाव यहाँ दिखलाया है और उनसे कृष्ण के घनश्याम वर्ण का कुछ तिरस्कार सा भी कराया है, जिसके कारण श्री कृष्ण उनसे कुछ विलग नहीं मानते वरन् उन पर प्रसन्न ही होते हैं। आन्तरिक भाव-भावना को जानकर वे इसे प्रणय-परिहास ही मानकर विमोह-विप्लुत उत्तर देते हैं।

"सांवरे सौं मिलि ह्वै हैं न साँवरी, बावरी सखि दई यह कौने।
सोने कौ रंग कसौटी लगै पै कसौटी कौ रंग लगै नहीं सोने।"

× × ×

चातुर्यमय तथ्योत्तर है, कितना भाव-भरा व्यंजक और अनुरंजक उत्तर है। हाँ है यह विनोद-सूचक व्यंग्योत्तर ही। वस्तुतः श्री राधिका जी श्री कृष्ण के वर्ण पर अपने सर्वस्व को निपट नेह के साथ निछावर ही करती हैं। सूरदास जी ने भी यथा-स्थान और यथावसर राधिका जी के दिव्य सौन्दर्य का सहज सुन्दर स्पष्ट संकेत दिया है और प्रायः

उनके इसी रम्य रूप से अखिल सौन्दर्यशाली भगवान कृष्ण भी विमोहित होते हैं। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि राधिका में विशेष विचित्र दिव्य सौन्दर्य है चाहे उसका वर्णन किया जाये अथवा न किया जाये, क्योंकि राधिका में है अवश्यमेव ऐसी अलौकिक सौन्दर्य-श्री, जिससे वे हरि विमुग्ध हो जाते हैं जिनमें विश्व-विमोहनी के भी विमोहने की शक्ति है। महामोहिनी माया भी जिसकी रूप-मोहिनी से मोहित है, वह जिससे विमोहित हो उसके लिये कहना ही क्या है।

उसे तो—"देखतै बनै है कछु बनै न, नैन,
निपट अवैन, बैन बिरंचि कहैं कहा।"

गोपिकाओं के सौन्दर्य का विशेष वर्णन सूर या किसी भी अन्य कवि ने कहीं कुछ विशेष रूप में नहीं किया। हाँ, यह अवश्यमेव यथावसर इस सम्बन्ध में व्यंजित किया है कि गोपिकाओं में ऐसी मानवेतर छबि-छटा और सुषमा-समा-समाकुल श्री विराजती है, जिस के कारण वे भी श्री कृष्ण को प्रिय हैं, हाँ, उनमें राधा सा दिव्य सौन्दर्य नहीं, अतएव वे राधिका के समान हरि की प्राण-प्रिया नहीं।

राधिका और कृष्ण को सूर और दूसरे सुकवियों ने तडिताभ्र-विभ्रम-विभूषित कर इनसे उपमित किया है, सूर ने कृष्ण के सौम्य सौन्दर्य के वर्णन में विशेषतया दो रचना-रीतियों का अनुसरण किया है। एक तो स्वभावोक्ति-चित्रण-रीति का और दूसरेअलंकृत-चित्रण-रीति का, जिन अंगोपांगों के सुखद सौन्दर्य का कथन स्वभावतः स्पष्ट रूप से सरलता और सुबोधता के साथ किया जा सकता है, उनके चित्रण में तो स्वभावोक्ति का और जिनके चित्रण में सौन्दर्य के स्वभावतः स्पष्ट करने के लिये अलंकृत विधान की आवश्यकता अनिवार्य है, उनके चित्रण से अलंकार-योजना-विधि का उपयोग किया है। इस

अलंकार-योजना-विधि के द्वारा विविध प्रकार से सूर ने वस्तुतः कमनीय काव्य-कला-सौन्दर्य के कल कौशल का चारु चातुर्य-चमत्कार दिखलाया है। सौन्दर्य के वर्णन में सब प्रकार सूरदास ने ईश्वरीय सौन्दर्य की बराबर व्यंजना दी है और उस दिव्य सौन्दर्य के साथ ही पुनीत प्रेम रस का सर्वत्र सुन्दर समन्वय सा किया है। श्री कृष्ण का अलौकिक सौन्दर्य प्रयत प्रेमोत्पादक होता हुआ प्रेमाकर्षक और हृदय-हर्षक भी है अर्थात् वह दर्शकों में प्रेम रस को उद्दीप्त कर फिर उसे अपनी ओर खींच लेता है क्योंकि वही ईश्वर तो वास्तव में प्रयत प्रेम-पुंज है।

इसी के साथ वह दिव्य सौन्दर्य चित्ताकर्षकता की ऐसी विशेषता रखता है कि चित्त तदाकृष्ट हो दृष्टादृष्ट को भूल आत्म-विस्मृत सा हो उसी एक सौन्दर्य-श्री पर अपना सर्वत्र निछावर करता हुआ आत्म-समर्पण भी कर देता है, अर्थात् इस सौन्दर्य में विलक्षण मन-बुद्धि-विमोहनी, प्रणय-मादकता और वशीकरता है जिससे चिदाचित् सभी विमुग्ध हो जाते हैं। यह सौंदर्य प्रत्येक दर्शक को उसकी रुचिर रुचि के ही अनुकूल रम्य रूप में प्राप्त होता है और तदनुसार ही भव्य भाव-भावना की उसमें उद्दीप्ति करता है। यह बात भी सूर ने अपनी रोचक रसमयी रचना में सर्वत्र व्यंजित की है।

सौन्दर्य-श्री के वर्णन में सूर ने स्थान स्थान पर भगवान कृष्ण की प्रत्येक आंगिक क्रिया का भी रमणीयता के साथ उपयुक्त उल्लेख किया है और वह भी बड़ी अनोखी-चोखी कल्पना-कला-कुशलता के साथ। इस बात के उपयुक्तोत्तम उदाहरणों की कोई भी कमी सूर के काव्य में नहीं—यहाँ उन उदाहरणों का बाहुल्य करके पुस्तक के कलेवर की वृद्धि करना अभीष्ट नहीं। अतएव निकर्ष रूप में यहाँ यही कह सकते हैं कि सूरदास ने हरि-सौन्दर्य के वर्णन में उस प्राचीन

पुष्ट परम्परा का अनुकरण किया है जो आयुर्वेद और सामुद्रिक आदि शास्त्रों के स्वयं सिद्ध सत्य सिद्धान्तों के सर्वथा समनुकूल होती हुई काव्य-कला-कुशल कवियों के द्वारा शताब्दियों पूर्व से चलायी गयी थी और जिसका सम्बन्ध सर्वमान्य आदर्श सौंदर्य-चित्रण की चारु चातुरी से था। यहाँ विशेषतया यह भी संतत स्मरणीय है कि साहित्य में सौंदर्य के वर्णन में अंग-प्रत्यंग की छबि-छटा को सब प्रकार सुस्पष्ट, सुबोध और स्वभावतः सरस करने के लिये जिन उपमानों का जैसा उपयोग किया गया है उनका वैसा उपयोग वस्तुतः पहले बहुत कम हुआ था। यहाँ वे सब उपमान सर्वथा यथावसर साभिप्राय हैं। यथा-स्थान और यथावश्यकता उनका सहेतु उपयोग किया गया है। स्वास्थ्यारोग्य-नियमों के अनुकूल होते हुये और धार्मिक शास्त्रीय सिद्धांत-पोषक, सुरुचि-संतोषक उपयुक्त उपमानों और उत्तम अलंकारों के द्वारा ईश्वरीय सौंदर्य के समझाने का प्रयत्न सूर के द्वारा पूरी सफलता से किया गया है। वास्तव में यही अलंकार-विधि इस विषय के स्पष्ट करने में क्षम हैं यथार्थ रूप में यदि कहा जाये तो कवि के पास दिव्य सौंदर्य-चित्रण के लिये अलंकारों को छोड़कर अन्य ऐसा सुंदर समीचीन साधन ही क्या है, जिससे उसका यह उद्देश्य सब प्रकार पूरा हो सकता है, क्योंकि वह दिव्य सौंदर्य तो ऐसा है कि उसे देखते ही बनता है। नयन तो देखते देखते थक जाते हैं किन्तु देखने की लालसा पूरी ही नहीं होती, मन को संतोष ही नहीं होता, यद्यपि सौंदर्य का अनन्ताक्षय कोष सामने रहता है। यही बात गो० तुलसीदास ने भी भगवान राम और जानकी के सौंदर्य-चित्रण में की है। उन्होंने तो इससे भी आगे चलकर ईश्वरीय सौंदर्य को अनिवचनीय अथवा अकथनीय ही कहा है। उसके लिये:—
"गिरा अनयन नयन बिनु बानी" ही की उक्ति समीचीन है। कथन उसका यदि किया भी जाये तो कैसे किया जाये, नयन और वाणी

दोनों ही अक्षम है, फिर अब वर्णन कैसे किया जाये।

इसी प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि भगवान की तीन अवस्थाओं के पृथक पृथक प्रकार के सौन्दर्य-स्वरूपों के चित्रण पृथक पृथक ही सूर ने किये हैं। प्रथम तो आता है कृष्ण का बाल सौन्दर्य, जिसमें शैशव-सौंदर्य है, किशोर-सौन्दर्य भी इसका ही एक अंग विशेष मात्र है। इन सौंदर्य-रूपों को अधिक विमोहक बनाने के लिये इनके साथ भगवान की भव्य भली भाव-भंगिमाओं और आंगिक क्रियाओं अथवा क्रीड़ाओं का भी कथन किया गया है, जिसके कारण सौंदर्य के वर्णन में भावोद्दीप्तिता भी बड़ी तीव्रता से आ गई है और सौंदर्यानुभूति को अच्छी सहायता मिल गई है तथा उसकी विमोहकता और भी बढ़ गई है। कभीं कभी तो कृष्ण की क्रीड़ाओं और क्रियाओं आदि से उनके सौंदर्य की मंजु मधुर मोहनी को भी बड़ी चारु चतुरता से सूर ने व्यंजित किया है।

"बाल-बिनोद खरो जिय भावत।
मुख-प्रति बिम्ब पकरिबैं कारन हुलसि घुटुरुवनि धावत।
छिनक माँझ त्रिभुवन की लीला सिसुता माँहि दुरावत।
सबद एक बोल्यो चाहत हैं प्रगट बचन नहिं आवत।
कमल-नैन माखन माँगत हैं, ग्वालिनि सैन बतावत।
'सूर' श्याम सु सनेह मनोहर जसुमति-प्रीति बढ़ावत।

× × × ×

इस प्रकार कह सकते हैं कि सूर ने ईश्वरीय सौंदर्य का चारु चित्रण कल्पना-कला-कौशल के साथ साभिप्राय और सार्थक रूप में किया है। एतदर्थ उपयुक्त उपमानों आदि का पटु प्रयोग करते हुये आयुर्वेदिक और सामुद्रिक आदि शास्त्रों के सिद्धांतों का भी सर्वथा

निर्वाह किया है और साम्प्रदायिक मान्यताओं को भी चरितार्थता दी है। इसीलिये उनका सौन्दर्य-चित्रण सब प्रकार साहित्यिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से सर्वथा स्तुत्य हुआ है। उस पर शरीर-विज्ञानादि अन्य शास्त्रों का भी पूरा प्रभाव है। जो कुछ सूर ने हरि-सौन्दर्य के लिये लिखा है, वह शास्त्रीय-सिद्धान्त-सम्मत और सर्वमान्य है, केवल अलंकार-चमत्कार और कल्पनादर्श-सूचक ही नहीं है, वरन् मान्य मान्यता-मूलक भी है।

सूर-काव्य में कृष्ण का बाल-वर्णन

प्रायः यह कहा जाता है कि सूरदास के काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता उस स्थल पर है, जहाँ पर कृष्ण के बाल-स्वरूप का चित्रांकन किया गया है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि सूरदास ने अपने इस बाल-वर्णन में बाल-प्रकृति का बहुत ही सच्चा और स्वाभाविक चित्र खींचा है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी बहुत ही तथ्य-मूलक और स्वाभाविक है, किन्तु सूरदास के काव्य में इस वर्णन के विचार-पूर्वक देखने से ऐसे वाक्यों की तथ्यता पूर्णतया संदिग्ध ही प्रतीत होती है। प्रायः ऐसा सोचते और लिखते समय पाठक और आलोचक यह भूल जाते हैं कि सूर भगवान अखिलेश के बाल-रूप का वर्णन करते हैं साधारण बाल-रूप का नहीं। उस हरि के बाल-रूप का, जिसके समक्ष मन और मनोविज्ञान कुछ भी नहीं है।

वास्तव में सूरदास ने भगवान के बाल-रूप का चित्रण करते हुए बराबर यह ध्यान में रक्खा है कि यह चित्रण काव्योचित होता हुआ भी सर्वथा सारगर्भित, सत्य और सिद्धान्त-पुष्ट हो। उन्होंने अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तानुसार ऐसा चरित्र-चित्रण किया है जो सब प्रकार सुखद और स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक होता हुआ भी मानवेतर दिव्यता और अनुपम अलौकिकता का ही यथेष्ट परिचय देता है। मानवीयता के साथ ही उसमें ईश्वरीयता का भी पूरा प्रतिविम्ब है, यद्यपि उसमें लौकिकता का भी ऊपर से पूरा आभास है क्योंकि हरि ही इस संसार में अवतीर्ण हुए हैं। इस प्रकार इसमें लौकिक और अलौकिक दोनों तत्वों का सुन्दर समन्वय है। स्थान-स्थान पर उन्होंने यही बारम्बार कहा भी है कि यह बालक

अथवा शिशु, जिसका वर्णन यहाँ हो रहा है, वह ब्रह्म-मूर्ति है, जिसमें सब प्रकार का विरोध सर्वथा चरितार्थ होता है और इसीलिये जिसे साकार और निराकार, सगुण और निर्गुण, चित् और अचित् तथा सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही होने तथा एकैव सत्य शाश्वत् सत्ता के रूप में महा महत्ता के सहित व्यक्ताव्यक्त साथ ही साथ कहा गया है।

प्रायः शैशव और बाल-काल-सम्बन्धिनी कृष्ण-लीलाओं का वर्णन करते हुये सूर स्पष्ट रूप में यह व्यंजित करने से कदापि नहीं चूकते कि यह वर्णन संसार-सामान्य वर्णन न होकर मानवेतर दिव्य और अलौकिक है, इसमें केवल ऊपरी आवरण ही लौकिक सा है वस्तुतः है यह परमालौकिक। यदि एक दृष्टि से देखा जाय तो लौकिकता और अलौकिकता का भेद तो केवल कहने ही के लिये है और सर्वथा तर्क-शून्य कथन सा ही है, क्योंकि जिसे लोक या विश्व कहा जाता है, वह वस्तुतः उस परमात्मा या ब्रह्म का केवल स्थूल रूप ही है, और यह भी कहा गया है कि इस समस्त संसार में वही एक ब्रह्म या ईश्वर सर्वत्र सब प्रकार सब समय पूर्णतया व्याप्त है। यह संसार उससे परे अपनी कहीं कोई सत्ता ही नहीं रखता, हाँ वह परमात्मा अवश्यमेव इस विश्व में व्यापक रहता हुआ भी इससे पूर्णतया परे है।

अद्वैतवाद तो विश्व को असत्य और स्वप्नवत भ्रमात्मक तथा ब्रह्म को ही सत्य मानता है, केवल ब्रह्म का ही एक अस्तित्व बताता हुआ और किसी का भी अस्तित्व नहीं मानता। ऐसी दशा में यदि उस ब्रह्म को अलौकिक कहा जाता है तो इस संसार को भी अलौकिक कहा जाना चाहिये। यह असार संसार उसी से तो सारवान सा है। उसी के सत्याभास से वह असत्य होकर भी सत्य सा भासित होता है। यह प्रकृति यदि अपना कोई भी कहीं कदापि स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखती, जैसा अद्वैतवाद का विचार है, और लौकिकालौकिक-भेद-रहित यदि

यह सर्वथा वही ब्रह्म ही है तो इस जगत को लौकिक मानना भी युक्ति-संगत नहीं। इसलिये लौकिक और अलौकिक का भेद वास्तव में मान्य नहीं हो सकता। द्वैतवाद अथवा त्रिकवाद के आधार पर भले ही वह मान्य हो। प्रकृति या जगती की सत्ता को आत्मा और परमात्मा से पृथक मान कर उससे सर्वथा परे भी मान सकते हैं और उसे तथा उससे सम्बन्ध रखने वाले संसार को लोक और परमात्मा को अलौकिक और दिव्य मान सकते हैं। किन्तु सूरदास का कोई विशेष सम्बन्ध, द्वैतवाद, त्रिकवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि से नहीं है, हाँ, उनका साम्प्रदायिक सम्बन्ध सीधे सीधे शुद्धाद्वैत से अवश्यमेव है और शुद्धाद्वैत के सिद्धान्त में भी इस प्रकार का लोकालोक-भेद केवल ऊपर से कहने ही मात्र के लिये है और वैयक्तिक रुचि या प्रतीति का सूचक ही है, वह वास्तविक नहीं। ऐसा मानने पर यह मानना ही पड़ता है कि सूरदास के कृष्ण-काव्य में लौकिकता का आभास केवल कहने के लिये ही है। काव्य में सारा चारु चित्रण वस्तुतः सर्वथा दिव्य और अलौकिक ही है, लौकिकता का तो केवल कुछ आभास मात्र ही है, क्योंकि वहाँ वास्तव में वर्णन है बस उस परमात्मा का, जो अलौकिक होता हुआ भी लौकिक है। सूफी काव्य में भी लौकिकता में आलौकिकता का आभास रहता है, किन्तु कृष्ण-काव्य में इसके विपरीत अलौकिकता में लौकिकता का आभास रहता है। प्रधानता दोनों ही में अलौकिक तत्व के महत्व की ही है।

भागवत के आधार पर भगवान कृष्ण का अवतरण अति गूढ़ और रहस्यमय है, यही बात रामावतार में भी है। श्री हरि वस्तुतः भू-भार को दूर करने और धर्म-संस्थापन के लिये ही अवतरित हुए। भक्ति के क्षेत्र में उसी हरि-जन्म या अवतार को भक्तों की रक्षा के हेतु ही कहा गया है।

वास्तव में कृष्ण-काव्य उस समय से चलता है जब भगवान

कृष्ण नवजात शिशु के रूप में वसुदेव जी के द्वारा कंस के कारागृह से नन्द-निकेतन में आये थे। आविर्भूत होते ही भगवान ने वसुदेव और देवकी के समक्ष अपने दिव्य मूल रूप को प्रगट करते हुये वसुदेव को आदेश दिया था कि वे नंद जी के यहाँ उन्हें पहुँचा दें और वहाँ से उस कन्या को, जो वहाँ उत्पन्न हुई है, ले आवें। यही कन्या वस्तुतः भगवान की योग-माया थी और इसी को पीछे कंस ने पत्थर पर पटक कर मार डाला था। वसुदेव जी प्रभु की आज्ञा से उन्हें शिशु-रूप में लेकर चले। मार्ग में भगवान का पावन चरण-स्पर्श यमुना ने किया था। उस समय धीमी धीमी वृष्टि हो रही थी और भगवान शेष अपनी फनाली से भगवान के ऊपर आत पत्र (छाता) सा लगाये थे।

कंस और नन्द दोनों के यहाँ सभी लोग नितान्त मोह-निद्रा में निमग्न रहते हुये अचेत से थे, अतः वे कोई भी प्रभु-रहस्य जान न सके। श्री हरि के नन्द-निकेतन में पहुँच जाने पर पुत्र-जन्म का महदुत्सव सब के सचेत हो जाने पर हुआ था। नवजात शिशु-काल ही में कंस के आदेश से पूतना नाम की एक राक्षसी ने रूपवती स्त्री के वेश में आकर श्री कृष्ण को अपना विषमय पय पान कराया, तभी उसका दूध पीते हुये भगवान श्री कृष्ण ने उसके प्राण भी पय के साथ खींच लिये। यह देखकर सभी व्रज-वासियों को महदाश्चर्य हुआ, यद्यपि यह देख-सुनकर भी कोई भी व्यक्ति पूर्णतया भगवान के इस रहस्य को जान न सका।

इस कथा को संक्षेप से देकर सूरदास ने भगवान के शैशव का वर्णन बड़ी ही सुन्दरता और व्यंजकता के साथ किया है। साधारण-तया सूरदास के इस प्रसंगवाले पदों को केवल स्वाभाविक शैशव-चित्र-चित्रण के ही पद कहा गया है, और उनका ऊपरी अर्थ ही समझ कर उन्हें साधारण और स्वाभाविक भाव-मूलक माना गया है, किन्तु इन पदों में बड़ी ही रम्य रहस्यात्मक सुन्दर गूढ़ व्यंजनायें हैं। विचार-पूर्वक देखने पर इनसे भगवल्लीला का मंजुल मर्म और गह-

नाध्यात्मिक रोचक रहस्य भी अभिव्यंजित होता है। हरि-शैशव के वर्णन में सूरदास ने इस बात का सर्वत्र अवश्यमेव ध्यान रक्खा है कि मार्मिक व्यंजना मानवीय चरित्र के रंग में भी रंजित रहे। वर्णन वस्तुतः परमात्मा का ही हो रहा है, हाँ, ऊपर से सर्वथा यही प्रतीत होता है कि आदर्श नर-जातक का ही यह चित्रण है, शिशु कृष्ण की विश्व से परे की वे विशेषतायें उन्होंने अपने पदों में विशेषरूप से ऐसी समाविष्ट की हैं, जिनसे भव्य भावुक-भावनायें ही अधिक उद्दीप्त होती हैं और जिनमें सर्वथा सरसता, सुन्दरता तथा स्वाभाविक सुकुमारता भी रहती है।

भगवान के इसी रूप के चारु चित्र का चित्रण करते हुये, उन्होंने कृष्ण के अपने हाथ से अपने दक्षिण पद के अँगूठे को चूसने का भी कथन किया है और इसका बड़ा ही सुन्दर विचित्र चित्र दिखलाया है। वालोपासना में इस रूप का भी वस्तुतः बहुत बड़ा महत्व है। यह कहा गया है कि—"करारविन्देन पदारविन्दम्, मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ···। वटस्य वृक्षस्य पुटे शयानम् बालं-मुकुन्दम् शिरसा नमामि···" ऐसा ही कृष्ण के शिशु-रूप का चित्र भी दिखलाया गया है। हाँ "वटस्य वृक्षस्य पुटे शयानम्" अवश्य ही उसमें नहीं है। सामुद्रिक शास्त्र के विचार से शिशु का अंगुष्ट-लेहन एक अति शुभ लक्षण है। इसके अनन्तर यशोदा जी का श्रीकृष्ण को पालने में झुलाने का भी वर्णन सूर ने बड़ी ही चारुता से किया है। वे लिखते हैं :—

"जसोदा हरि पालने झुलावै।

× × × ×

यशोदा झुलाते हुये कृष्ण के सौंदर्य को देख-देखकर आत्म-विस्मृति को भी प्राप्त हो जाती है। ब्रज के गोप और वहाँ की

गोपिकायें भी कृष्ण के अनूप रूप-लावण्य पर अपने को नितांत निछावर ही कर देती हैं। सभी को शिशु कृष्ण प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं।

इसके अनन्तर सूर ने मुख्य रूप से कृष्ण के घुटनों के बल चलने, कुछ बड़े होकर रत्न-खचित, हेम-रचित सुन्दर स्तम्भों आदि पर पड़े हुये अपने प्रतिबिम्बों को माखन खिलाने और बड़े होकर चन्द्रमा के लिये मचलने, माखन और रोटी माँगने, चोटी बढ़ाने तथा अपने आगे कुछ गाने आदि की ललित लीलाओं का बड़ी भावुकता के साथ भाव-प्रभाव पूर्ण चित्रण किया है। इन सभी लीलाओं से सम्बन्ध रखने वाले पदों में बड़ी ही गूढ़ और गम्भीर व्यंजनायें और रोचक रहस्यात्मक विशेषतायें सरल, स्वाभाविक और सुबोध शब्दों में इस कुशल कौशल के साथ रक्खी गयी हैं कि वे पंडित जनों को तो विचार करने पर सुव्यक्त होकर मुग्ध करने में समर्थ होती हैं, किन्तु साधारणतया सुनने और समझने में भी वे सर्वथा स्वाभाविक और सरल बालोचित मनोवृत्तियाँ ही प्रतीत होती हैं। इसी बाल-काल में भगवान ने यशोदा जी के समक्ष अपने को प्रत्यक्ष प्रगट भी किया है। हाँ, नन्द जी के संमुख वे दूसरे ही रूप में रहे हैं, अपने मूल रूप में नहीं। ठीक इसी प्रकार ही उन्होंने अपने रामावतार में निज माता कौशल्या को भी अपने ईश्वरत्व का अलौकिक परिचय दिया था और श्री दशरथ जी को नहीं।

भगवान कृष्ण को स्वर्ण-रचित और मणि-माणिकादि से खचित प्रांगण में अपने घुटनों से चलाते हुये सूर ने निस्संदेह बड़ी चातुरी-चारुता से यह व्यंजित किया है कि वसुन्धरा देवी भगवान कृष्ण की सेवा-सुश्रूषा के भाव से बराबर उन उन स्थानों पर कलित कोमल कमलों की बैठकियाँ रखती जाती हैं, जहाँ जहाँ भगवान श्री हरि अपने कल-कोमल कर-कमल घुटनों से चलते हुये रखना चाहते हैं।

इस पद में उत्प्रेक्षा अलंकार का सहेतुक तथा साभिप्राय प्रयोग करते हुये इस गुप्त भाव-व्यंजना को उसी उत्प्रेक्षा के चमत्कारमय आवरण में चारु चातुर्य से छिपाकर भक्तवर सूरदास ने वास्तव में कमाल किया है। हाँ, व्यंजक पदावली को साधारण रूप से देखने पर तो इस पद में सामान्य उत्प्रेक्षालंकार-सम्बन्धी उनके कल-काव्य-कौशल का उदाहरण सा ही प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में इसी उत्प्रेक्षा में बहुत गूढ़ और रुचिर रहस्य भी छिपा हुआ है, जिससे कई प्रकार की भाव-व्यंजनायें प्राप्त होती हैं। इससे यह प्रगट होता है कि पृथ्वी और प्रकृति प्रभु-सेविका है, और उनके ही सर्वथा समनुकूल कार्य करती है। उत्प्रेक्षा यहाँ इसीलिये रक्खी गई है जिससे उसके कारण जो प्रतीति होती है वह देखने में ही यह बात प्रगट करती है किन्तु उसके विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

भगवद् भक्ति-रस-रसिका रसमयी रसा भगवान की सुख-सुविधा और सरलता के लिये कोमल-कल कमल प्रति पद पर रखती जाती है, जिससे उनके मार-सुकुमार-कर कमलों को भू-तल की कठिनता से कष्ट न हो, और यह सत्य भी है। यद्यपि ऐसा नितांत निश्चय के साथ स्पष्ट रूप से तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भगवल्लीला वास्तव में नितांत दुर्बोध ही है, उसका परोक्षगत सत्य रूप तो कुछ रहता है किन्तु प्रत्यक्ष रूप कुछ दूसरा ही प्रतीत होता है।

"घुटुरुन चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किये।

× × ×

मानो प्रति पद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजति।"

× × ×

फिर आगे चल कर सूरदास भगवान श्रीकृष्ण को दूध पिलाने के लिये यशोदा से यह विचित्र लालच दिलवाते हैं कि दूध के पीने से

उनकी चोटी बढ़ेगी और कृष्ण जी चोटी के बढ़वाने के लिये बहुत ही उत्सुक तथा इच्छुक से भी जान पड़ते हैं। चोटी के बढ़ने से सम्भवतः उच्चशिखरता का तात्पर्य है और यह भी व्यंजित होता है कि बाल-काल से ही श्रीकृष्ण के मन में लोकाभ्युदय और उच्चशिखरता के प्राप्त करने की उचोत्तमाकांक्षा कार्य करती है। इससे मानसिक महदाशयता, अथवा महत्वाकांक्षा की सुन्दर व्यंजना व्यक्त होती है। हिन्दुत्व-चिह्न चोटी के संरक्षण और सम्बर्धन का भाव भी ध्वनित होता है। सूर के समय में चोटी के रखने और बढ़ाने का ही प्रबल प्रश्न था। भूषण ने चोटी का उल्लेख किया है—"बिन चोटी के चबाय सीस।"

"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बेरि मोहिं दूध पियत भई या अजहूँ है छोटी।
तू तौ कहति कि बलि-बेनी ज्यौं ह्वै है लाँबी मोटी।
काढ़त, गुहत, अन्हावत, औंछत नागिन सी भुइँ लोटी।
काचो दूध पियावति पचि पचि देति न माखन-रोटी।
'सूर' स्याम चिरजीवौ दोऊ हरि - हलधर की जोटी।

× × × ×

साथ ही इससे यह भी ध्वनित होता है कि कृष्ण को दूध का पीना उतना रुचिकर नहीं, वे कठिनाई से दूध पीते हैं। आगे बढ़ कर वे मक्खन ही विशेष रूप में खाते हैं, दही भी उनको कुछ प्रिय है, किन्तु विशेष रूप से नहीं, उसे तो वे प्रायः खाते नहीं, हाँ, अपने सखाओं को चुरा कर खिलाते अवश्यमेव हैं। मक्खन के लिये वे घर-घर में चोरी भी किया करते हैं। मक्खन से तात्पर्य सम्भवतः शुद्ध और स्निग्ध विवेक अथवा प्रतिभा-प्रकाश-तत्व से है। मक्खन को नवनीत भी कहा गया है, अर्थात् वह है नवीन रूप से लाया हुआ विवेक, बुद्धि

का मौलिक सार-तत्व। इसी नवनीत की चोरी के लिये कृष्ण गोपों के लड़कों के ऊपर चढ़ कर सिकहर तक पहुँचते हैं और गोपिकाओं के द्वारा पकड़े जाकर यशोदा जी के समीप लाये जाते हैं। वहाँ वे उस चुराये हुए नवनीत को तो अपने हाथों से पीछे छिपा लेते हैं और कहते हैं कि हमने मक्खन नहीं चुराया, यह जो मुख पर है उसे और लड़कों ने हमारे मुख पर लगा दिया है।

"मैया मैं नहिं माखन खायो—
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।
देख तुही सींके पर भाजन धरि उपर लटकायो।
तुही निरख नान्हें कर अपनै मैं कैसे करि पायो।
मुख दधि पोंछि बुद्धि इक कीन्ही दौना पीठि दुरायो।
हारि गहि रहि मुसकाइ जसोदा स्यामहिं कंठ लगायो।
बाल-बिनोद-मोद मन मोह्यो भगति-प्रताप दिखायो।

× × × ×

'सूरदास' यह जसुमति कौ सुख सिव-बिरंचि नहिं पायो।"

× × × ×

ऐसा कहते हुये वे यशोदा और गोपिकाओं को विमुग्ध कर लेते हैं। वे उनकी इस बाल-चतुरता चौर्य-संगोपनता और सत्य को छिपा कर असत्य के स्थापित करने के बाल सुलभ-चातुर्य्य को देखकर चकित और प्रसन्न हो जाती हैं। यह केवल उनका प्रमोद-प्रद बाल-विनोद ही है। क्यों न यह सर्व-प्रिय हो। साथ ही इसके द्वारा उन्होंने अपने सत्य-स्वरूप के छिपाने और असत्य संसार के सत्यवत प्रतीत कराने की भी व्यंजना दी है। साथ ही इसे अपने केवल एक कुतूहलकारी कौतुक के रूप में ही प्रकट किया है। बाल-विनोद के उदाहरण और भी हैं :—

"बाल-विनोद खरौ जिय भावत।"

× × × ×

इसी प्रसंग में कुछ गोपिकायें उलाहना देने के ब्याज से कृष्ण पर चोरी और शैतानी करने का दोषारोपण करती हुई यशोदा जी के निकट हरि को दण्ड दिलाने के लिये ले आती हैं। उनका उद्देश्य तो वास्तव में कृष्ण की उस विशेष-विनोदक मुख-मुद्रा का देखना है, जो उलाहने के समय यशोदा के ताड़न-भय से बनती है।

ऐसे अवसरों पर कभी तो कृष्ण माता यशोदा जी के सम्मुख पहुँच कर किसी गोप के रूप में प्रकट होते हैं और कभी कभी किसी गोप-कन्या के रूप में तथा कभी यशोदा से भय-भीत होकर ऐसी मुख-मुद्रा बनाते हैं कि यशोदा और तत्रोपस्थित गोपिकायें सभी दया और मया से संद्रवित होकर स्नेह-विभोर हो जाती हैं और उलाहना लाने वाली गोपिकायें ही यशोदा जी से कहने लगती हैं कि हम इन्हें दण्ड दिलाने के लिये कदापि उलाहने के साथ यहाँ नहीं लायी हैं। यह परम प्रिय बालक दण्ड के योग्य कदापि नहीं है, यह तो हमारे प्राणों से भी अधिक हमें प्रिय है—दही और मक्खन क्या, इसके अनूप रूप पर तो जीवनोत्सर्ग भी कर देना बहुत अल्प बात है। यह प्राणाधिक प्रिय है।

इस प्रसंग के सभी पदों से कृष्ण की परम दिव्यता और चरम ईश्वरता व्यंजित की गयी है और उनकी विश्व-विमोहिनी मोहनी माया का प्रबल प्रभाव-भाव दिखलाया गया है। मक्खन की ऐसी चोरियों के क्रीड़ा-कौतुक कृष्ण की कमनीय किशोर अवस्था तक ही चलते हैं। उस समय के पश्चात् योवनागमन के समय में चोरी के स्थान पर मार्ग में गोपिकाओं के दधि-गोरस आदि के अपहरण करने का कार्य होने लगता है। इस गो-रसापहरण कार्य में बहुत से ग्वाल-

ग्वाल भी श्री कृष्ण के साथ रहते हैं। गोपिकायें ऐसे समय में कभी तो हरि से अनुनय-विनय करती हैं और कभी रस-रीझती सी कुछ खीझती सी हैं, किन्तु अन्त में वे श्री कृष्ण के इस कल-कौतुक-कृत्य को उनके रम्य रूप-लावण्य पर मंत्र-मुग्ध होकर कुछ न मानती हुई अयत प्रेम में विभोर भी हो जाती हैं।

इस प्रसंग के पदों में प्रायः गो-रस शब्द का ही प्रयोग अधिक किया गया है, जिससे साधारण तात्पर्य तो दधि आदि से ही है, किन्तु विशेष तात्पर्य गोलोक अथवा इन्द्रियों के रस या विषय से है। वास्तव में यह गो-रस-लीला केवल एक सामान्य लौकिक लीला ही न थी, वरन् यह गोलोक की अमन्द परमानन्द-मयी ब्रह्म-रस-विलास की लोकेतर ललित लीला थी। उसी अनैहिक परमानन्द से आनन्दित होकर गोपिकायें अपने गो-रस की क्षति को कुछ भी नहीं समझतीं। यहीं गोरस के लेने या छीनने से तात्पर्य यह भी होता है कि हरि गोपियों से गो अर्थात् पृथ्वी (पृथ्वी, गो-रूप ही कही गई है) के रस अथवा सार-तत्व अथवा पार्थिव-तत्व छीन कर फेंक देते हैं और उनके शुद्ध स्नेह-स्निग्ध नवनीत रूपी आत्मविवेक को ग्रहण करते हैं और ऐन्द्रिक रस-व्यंजक गो-रस को पृथ्वी पर फेंक (क्योंकि यह भूतलीय ही है, अतः यहीं पृथ्वी पर छोड़ देने के योग्य है) या अन्य ऐहिक सुखेच्छुकों को देकर, आप शुद्ध नवनीत-रूपी स्निग्ध सार को (स्निग्ध भाव-तत्व को) ग्रहण करते हैं।

बाल-काल में यशोदा जी जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र हरि को देती हैं, किन्तु कृष्ण उसे पहचान लेते हैं और कहते हैं कि यह यथार्थ का चन्द्रमा नहीं, यह तो उसका केवल प्रतिबिम्ब मात्र ही है। मैं वही सच्चा चन्द्रमा लूँगा जिसका यह प्रतिबिम्ब है। इसमें सूर ने यह व्यंजित किया है कि भगवान को सत्य प्रिय है, सत्याभास नहीं। इसी से वह सत्याभासात्मक विश्व से परे रहता है। वह वास्तविकता चाहता है,

अयथार्थ कृत्तिमता नहीं। चन्द्रमा भगवान के मन का प्रतीक है, भगवान साम्प्रतम् मायामयी प्रकृति-कृति रूप जगती में हैं, माया का ही विकार मन है, अतएव उन्हें मन को ही लेकर चलना है। उनके कृष्ण नाम के साथ चंद्र का संयोग भी है। इसी प्रसंग में नन्द जैसे धनी-मानी श्रीमान् के घर में रहते हुये भी कृष्ण से माखन-रोटी सूर ने मँगवायी है और ऐसी रोटी मँगवायी है, जो "सुपक सुकोमल-मोटी"-हो, यह भाव भी अपनी सुन्दर गूढ़ विशेषता रखता है। सुपरिपक्व अर्थात् सर्वथा प्रौढ़ और सुकोमल तथा मोटी अर्थात् स्थूल रोटी तो भौतिक शरीर-पोषक पदार्थ है तथा मक्खन विवेक है। भौतिकोद्देश-पोषक वस्तु को सविवेक सुकुमार, पूर्णपरिपक्व और पीवरतामय होना चाहिये। इसी के साथ कृष्ण जी यशोदा जी से यह भी कहते हैं कि तुम मुझे जो कुछ भी मैं माँगू, दिया करो, जिससे शीघ्र ही सबल हो कर नृशंस कंस को मार सकूँ। इससे स्पष्ट रूप में यह व्यंजित है कि भगवान श्री कृष्ण के अवतार का उद्देश्य नृशंस कंस का विनाश करना है। उनका कथन है कि मैं निर्भय रहूँ—वस्तुतः भय ही साहसोत्साहादि की कार्य-प्रेरक भावनाओं की शक्तियों का नाशक है, शरीर और मन दोनों ही को निर्बल करने वाला है। गीता में भी उनका यही कथन है कि भय को दूर करो। अंतिमाकांक्षा उनकी कितनी उत्तम और सार्थक है, वे चाहते हैं कि मथुरा में जय रक्खूँ। जय और विजय भगवान के पार्शद हैं, इन्हें तब क्यों न अपने ही समीप वे रक्खें। भीष्म ने भी कहा है—

"यत्र योगेश्वरो कृष्णः तत्रैव विजयो ध्रुवम्"—

फिर संसार में अभ्युदय का प्राप्त करना जीवन का मुख्य उद्देश्य और धर्म-कार्य है, यही कर्तव्य-कर्म है।

"दूध, दही, माखन, घृत, मैवा जो माँगौ सो दै री।
कछू हौंस राखै जनि मेरी जोई जोई मोंहि रुचै री।

होउँ बेगि मैं सबल सबनि मैं सदा रहौं निरभय री।
रंग-भूमि मैं कंस पछारौं घींचि बहाऊँ बैरी।
'सूरदास' स्वामी की लीला मथुरा राखौं जय री।"

× × ×

साथ ही यह भी स्पष्ट है कि बालकों की अभिलाषाओं के पूरा करते रहने पर उनमें साहस, उत्साह और बल बढ़ता है, तथा लालच, लोभ और तज्जन्य कुत्सित भावनायें, जो उनको दुर्बल करने वाली हैं, दूर होती हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक और आयुर्वेदिक तथ्य है। यह भी यहाँ स्मरणीय है कि बालकों की अनुचित इच्छाओं से यहाँ तात्पर्य नहीं, केवल उन इच्छाओं ही से विशेषतया यहाँ तात्पर्य है, जिनका सम्बन्ध उपयुक्त आहार-विहार से है, क्योंकि मिथ्याहार-विहार से तो रोगोत्पत्ति होती है :—

"मिथ्याहार-विहाराभ्यां दोषाः ह्यामाशये स्थिताः।
वहिर्निरस्य कोष्ठाग्निःज्वरदः स्युः रसानुगः"—

इसके पश्चात् कृष्ण का बाल-वर्णन आता है। कृष्ण जब कुछ और बड़े हुये अर्थात् लगभग ५ वर्ष के ऊपर के हो गये, उस समय उनके कौतुकों और खेलों का संक्षेपतः सांकेतिक उल्लेख गूढ़ भाव-व्यंजकता के साथ किया गया है। इसी समय से वे अन्य ग्वाल-बालों के साथ गो-चारण के लिये वन में भी जाने लगे। यद्यपि यशोदा को वे इतने प्रिय हैं कि यशोदा उनको अपने से कदापि किसी प्रकार भी पृथक नहीं रखना चाहती, वरन् सदैव अपनी आँखों के ही सामने रखना चाहती हैं, किन्तु सब समय अब कृष्ण को न तो वे घर में रख ही सकती हैं और न कृष्ण के लिये ही उनका निरंतर घर में ही रहना समीचीन भी है। कृष्ण का मन अब घर में ही नहीं रम-विरम सकता। इसी समय कृष्ण को प्रभात में जगाने का भी वर्णन किया गया

है। यशोदा यह कह कर कि तुम्हारे साथी तुम्हें खेलने के लिये बुलाने आते हैं और तुम्हें सोते देखकर बेचारे चुपचाप लौट जाते हैं, अब तो सूर्य्योदय भी हो रहा है, तुम्हें इस समय उठना चाहिये। इससे यह ध्वनित होता है कि भगवान श्रीकृष्ण सरल बाल-प्रकृति-वश सोते हैं और देर तक सोते हैं। सोते समय उनके नेत्रों का अर्ध निमीलित अथवा मुकलित रहना भी कहा गया है। सामुद्रिक के विचार से यह भी एक बहुत शुभ लक्षण है। इसके अनन्तर वे ग्वाल-बालों के साथ गो-चारण के लिये जाते हैं और वहाँ से संध्या समय में लौट कर घर आते हैं। उस समय श्रीकृष्ण-मूर्ति के सौन्दर्य का भी सुन्दर वर्णन सूर ने बड़ी ही कुशलता से किया है। गोरज-मंडित कुंचित कुंतलों और धूलि-धूसरित अंगों से वे अत्यन्त सुशोभित होते हैं। यह सारा प्रसंग एक विशेष व्यंजना यह रखता है कि भारत में सदा ही से गौ का महा महत्व मान्य रहा है, गो-धन को सदैव यहाँ सर्वत्र विशेषता दी गई है। गो-पालन और गो-चारण सभी का एक प्रधान कर्तव्य सा था, चाहे वह बड़ा आदमी हो या छोटा मनुष्य हो, गो-रज-रंजित केश और धूलि-समावृत शरीर को शोभित कहा गया है, गो-रज-प्रेम और गो-रज-महत्व इससे स्पष्टतया व्यंजित है।

कृष्ण कभी कभी यशोदाजी से कुछ अन्य ग्वाल-बालों की शिकायत भी करते हैं, यशोदा इस पर बलराम आदि पर कुपित होती हैं और कहती हैं कि हम तो बच्चे को उसके मन बहलाने के लिये वन में भेजती हैं और उसको वहाँ सब लड़के गायों के पीछे दौड़ा कर थका देते हैं। कृष्ण इसीलिये ऐसा करते हैं, जिससे यशोदा जी लड़कों पर रोष करें और उन्हें डाँटें—यह बाल-मनोवृत्ति प्रायः स्वाभाविक है।

"मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसौं मेरे पाँय पिराँय।
यह सुनि जसुमति सब ग्वालनि कौ गारी देति रिसाय।

मैं पठवति अपने लरिका कौ, आवै मन बहराय।
'सूर' स्याम मेरो अति बालक, मारत ताहि रिंगाय।

× × × ×

ऐसे पदों से सूर ने कृष्ण के बाल-सुलभ सौम्य सारल्य और ललित लौकिक भाव को सूचित किया है। इसी अवस्था में अघासुर, वकासुर आदि के उद्धारों की लीलायें भी भगवान ने कीं, इन लीलाओं के वर्णनों में सूरदास का श्लाघ्य काव्योत्कर्ष अधिक निखर नहीं सका है क्योंकि इन लीलाओं में उनको भव्य भावना-क्षेत्र कुछ विशेष नहीं प्राप्त हो सका। सूरदास ने यहीं कृष्ण के सखाओं के कुछ नाम भी दिये हैं, जैसे रैता, पैता, मना, मनसुखा आदि। सम्भवतः यह केवल कल्पित नाम ही हैं। कृष्ण के सहपाठियों में से श्रीदामा (सुदामा) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हुआ है। किन्तु भगवान के विद्याध्ययन-काल का कोई भी विशेष वर्णन सूरदास ने नहीं किया है।

श्री वलराम और श्रीकृष्ण के सम्बन्ध को दिखलाते हुए, सूरदास ने वलराम को हास्य-प्रिय और विनोद-प्रिय अधिक दिखलाया है। वे कृष्ण को प्रायः चिढ़ाया करते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण उनसे कभी किसी प्रकार भी वाग्युद्ध नहीं करते, हाँ यदा-कदा यशोदा जी से उनकी शिकायत अवश्यमेव कर देते हैं। वलराम जी कृष्ण से अवस्था में बड़े भी थे। दोनों में स्वभावतः गहरा स्नेह है, समय पर बलराम और कृष्ण दोनों एक होकर ही काम करते हैं। कंस का संहार करने में श्री बलराम ने कृष्ण का साथ दिया है, और दोनों ने ही कंस तथा उसके अनुयायी अन्य दुष्ट राक्षसों को मारा है। श्रीवलराम में भी विष्णु का अंश था, वे भी लक्ष्मण की भाँति शेष के अवतार माने गये हैं, उनका प्रमुख अस्त्र हल कहा गया है, जिसका सम्बन्ध भूमि से है, उनके नाम हलधर, हलायुद्ध आदि हैं।

कृष्ण के बाल्य काल की घटनाओं में से यमलार्जुन-उद्धार भी उल्लेखनीय है। यमलार्जुन शाप-वश वृक्ष के रूप में हो गये थे, इन्हीं में यशोदा ने कृष्ण को एक रस्सी से बाँध दिया था और कृष्ण के खींचने पर वे दोनों वृक्ष गिरकर अपने मूल रूप में आते हुये कृष्ण-स्तवन कर शाप से मुक्त हुये थे। इस कथा को तो गाढ़े रंगों से सूर ने नहीं रंजित किया है, किन्तु कृष्ण के बाँधे जाने पर कृष्ण की मंजु-मुख मुद्रा का बहुत ही अच्छा चित्र खींचा है। इस दण्ड-विधान से यह भी व्यंजित किया गया है कि नियमों का परिपालन सब के लिये आवश्यक है। भगवान स्वयमेव निमयोल्लंघन कर दण्डित हुये, यही उपदेश वे प्रत्यक्ष रूप से यहाँ देते हैं।

श्रीकृष्ण को खेलों में से कंदुक-क्रीड़न कुछ अधिक प्रिय है, यह भी सहेतु और साभिप्राय है। इसी के व्याज से भगवान ने कालीय-दमन की लीला की थी। विशेषता तो यहाँ यह है कि कृष्ण की इन दिव्य शक्ति-सूचक विचित्र लीलाओं को देखते हुये भी किसी को भी श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व का पूर्ण ज्ञान स्थायी रूप से निर्भ्रांत निश्चय के साथ नहीं होने पाया। इन लीलाओं में उनकी विविध छवियों को देखकर सब स्त्री-पुरुष (बाल, युवा-वृद्ध) ऐसे विमोहित रहते हैं कि उनका ध्यान इन लीलाओं की विचित्रताओं पर जाता ही नहीं, इतना वे सब अवश्यमेव सोचते हैं कि भगवान की कृपा से कृष्ण बाल बाल बचे हैं और सार्वजनिक संकट दूर हुआ है। यही हरि की इच्छा भी थी। वे अपने को जनाना ही नहीं चाहते, फिर भी जानने वाले जानते ही हैं, हाँ उन्हें जनाया हरि ही ने है। "सोइ जानै जेहि देहु जनाई"—तुलसीदास।

कृष्ण-काव्य में अन्य खेलों में से आँख-मिचौनी के खेल का अधिक उल्लेख हुआ है, और इसकी एक पृथक परम्परा ऐसी

गहरी पड़ गई कि रीति-काल (काव्य-कला-काल) तक वह बराबर चली आई। रीति-कालीन कवियों ने इस पर बड़े सुन्दर छन्द लिखे।

"खेलन आँख-मिहीचनी आजु गई हुती पछिले द्यौस की नाँई:—मतिराम

× × × ×

आँख-मीचनी संग तिहारै न खैलि हैं-—

× × × ×

इस खेल से तात्पर्य यह प्रगट होता है कि यह संसार इसी खेल में व्यस्त है। भगवान भूत-भावन इस खेल के नायक हैं और वह छिपे रहते हैं, तनिक आंतरिक आँखों या ज्ञान-चक्षुओं को खोल कर उन्हें कठिनाई से खोजा जा सकता है। इसी विचार से इस खेल में ग्वाल-बालों के साथ ग्वाल-बालायें भी हरि के साथ खेलती हैं। भगवान उन्हें प्रायः शीघ्र ही मिल जाते हैं, क्योंकि वे भगवान से भक्ति-भावना का सरस सम्बन्ध रखती हैं और ग्वाल-बालिकायें (ग्वाल-बाल) उन्हें खोजती हैं और कभी वे भी छिपती हैं तथा हरि उन्हें खोजते हैं। हरि उन्हें तत्काल ही खोज लेते हैं किन्तु गोपिकायें उन्हें बहुत प्रयत्न पर भी खोज नहीं पातीं। इसका रहस्य यही है कि भगवान को भक्तात्मायें खोजती हैं और कठिनाई से पाती हैं। कभी हरि स्वयमेव भक्त-प्रवर को खोजते हैं और शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार कृष्ण का यह खेल भी रहस्यात्मक है।

बाल-वर्णन में सूरदास ने दो और विशेष वर्णन दिये हैं, एक तो वह वर्णन है, जिसमें कृष्ण नन्दजी के साथ भोजन करते हैं और आप खाते हुये नन्दजी को भी खिलाते जाते हैं। इस विचार से सूर ने भगवान की विश्वम्भरता की ओर संकेत किया है।

जेंवत कान्ह नन्द की कनियाँ।
आपुन खात, नन्द-मुख नावत, छवि निरखत नंद-रानियाँ।

× × × ×

एक दूसरे पद में वह वर्णन आता है, जिसमें भोजन करते हुये बड़े (बरे) के साथ एक मिर्च हरि के मुख में पहुँचती है और उसकी कटुता से कृष्ण रोते हुये भाग चलते हैं। रोहिणी तब उन्हें गोद में लेकर शान्त करती हैं।

जेवत कान्ह नन्द एक ठौरे।
कछुक खात लपटावत कोऊ बाल-केलि अति भोरे।
बरा-कौर मेलत मुख-भीतर मिरिच दसन टुक टोरे।
तीछन लगी, नैन भरि आये, रोवत बाहर दौरे।
फूँकति बदन रोहिनी ठाढ़ी लिये लगाइ अँकोरे।
सूर स्याम कौ मधुर कौर दै, कीन्हें तात निहोरे।

× × ×

इसी से यह भी सूचित किया गया है कि कृष्ण को माधुर्य रस अति प्रिय है। वे मधुरता के विशेष प्रेमी हैं। गीता में भी उन्होंने मधुर पदार्थों को सात्विक भोजन के अन्तर्गत बताया है। इसी प्रसंग में सूरदास ने अपने लिये भगवान के उच्छिष्ट (जूठा) की याचना की है।

जेवत काँन्ह नन्द की कनियाँ।
कछुक खात, कछु धरनि गिरावत, छबि निरखति नँद-रनियाँ।
बरा-बरी-बेसन बहु भाँतिन व्यंजन बिबिध अगनियाँ।
आपुन खात नन्द-मुख नावत सो छबि कहत न बनियाँ।

जो रस नन्द-जसोदा बिलसत, सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नँद अँचवन कीन्ह्यो माँगत 'सूर' जुठनियाँ।

× × ×

देखिये, यहाँ नन्द-भवन में विविध प्रकार के व्यंजनों का उल्लेख है, बरा, बरी आदि स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ प्रति दिन बनते हैं, किन्तु अन्यत्र सूर ने हरि से माखन-रोटी मँगवाई है। इस पर मार्मिक हेतु लिखा गया है, अन्तिम पद में सूर अपने प्रभु की जूठन माँगते हैं। राधा-स्वामी सम्प्रदाय में ही (गुरु के) जूठा खाने का विधान है, किसी अन्य सम्प्रदाय में अन्यत्र ऐसा नहीं। सूर श्री हरि की जूठन माँगते हैं। वह ठीक है, वह भगवत्प्रसाद है और अमृतमय है।

यद्यपि आयुर्वेद और धर्म के अनुसार स्मृति-ग्रंथों में किसी के जूठे पदार्थ के ग्रहण करने और किसी को उच्छिष्ट देने का निषेध किया गया है, किन्तु यहाँ सूरदास ने भगवान के जूठे भोजन की ही याचना की है, क्योंकि सम्भवतः प्रसाद के रूप में भगवान का जूठा पदार्थ अमृत-मय है, और वह सब के लिये ग्राह्य है। यहाँ यह स्मरणीय है कि भगवान शङ्कर के प्रसाद को ग्राह्य नहीं कहा जाता है, क्योंकि भगवान शङ्कर के कंठ में हलाहल रहता है, वह शिव-निर्माल्य है।

धार्मिक रूप में उच्छिष्ट के सेवन का विधान विशेषतया राधा-स्वामी जैसे परवर्तीय पंथों में ही रक्खा गया है। भक्ति-सम्प्रदाय में इसका कोई विशेष विधान नहीं है, किन्तु भगवत्-प्रसाद का विधान अवश्यमेव सर्वत्र है। यह प्रसाद नैवेद्यानन्तर एक प्रकार से प्रभूच्छिष्ट ही रहता है। निष्कर्ष-रूप से यह कहना चाहिये कि सूरदास जी के बाल-वर्णन में मार्मिक मनोवैज्ञानिकता और सरल स्वाभाविकता के साथ ही साम्प्र-दायिक तथा धार्मिक गूढ़ता और आध्यात्मिक तथ्यों के रहस्य की

गम्भीर व्यंजकता है। सरल और स्वाभाविक रूप में इन गूढ़ रहस्यों के रखने में जैसी सफलता सूर को मिली है वैसी तुलसीदास जी को छोड़कर और किसी भी दूसरे कवि को नहीं मिल सकी। हम तो दोनों की तुलना करते हुए यहाँ तक कह सकते हैं कि सूर से भी अधिक सफलता इस विषय में तुलसीदास जी को प्राप्त हुई है। यद्यपि यह सूर का ही प्रभाव था जिसके कारण तुलसी को राम के बाल-वर्णन का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ और उन्होंने बहुत-कुछ सूर ही के रङ्ग-ढङ्ग का अनुकरण सा करते हुये श्री रामचन्द्र आदि का बाल-चित्रण किया है। दोनों की इस प्रसंग के आधार पर तुलना करना तो यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं, किन्तु इतना कहना अनुपयुक्त नहीं कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि सूरदास का यह काव्यांश बहुत-कुछ मौलिक और गूढ़ भाव-व्यंजक होकर अतीव रुचि-रंजक है।

बाल-काल के आगे किशोर अवस्था आती है, यह तरुण अवस्था का पूर्व रूप है। इसमें शरीर और मन दोनों का क्रमिक विकास होता है, इसलिये इस अवस्था का चित्रण करना तनिक कठिन होता है, साथ ही इस प्रकार का चित्रण बहुत सूक्ष्म दृष्टि के साथ निरीक्षण करने की अपेक्षा करता है। इसीलिये कवियों ने प्रायः इस अवस्था के वर्णन में बहुत अधिक प्रयास किया है और इसी के सफल वर्णन में कवि की प्रतिभा का कौशल भी देखा जाता है। प्रायः नायिका-भेद के ग्रन्थों में किशोर और तरुण अवस्थाओं के सन्धि-काल को, जो वयस-सन्धि-काल के अंतर्गत हैं, विशेष महत्व और स्थान दिया गया है। प्रायः सभी कवियों ने इस काल का चारु चित्र मुक्तक छंदों और यथावश्यकता प्रबन्ध-काव्यों में भी खींचा है। नायक के सम्बन्ध में तो विशेष रूप से इस काल का अधिक कथन नहीं किया गया, किन्तु नायिका के सम्बन्ध में अवश्यमेव बड़ी सुन्दरता और सफलता से इसका अधिक रोचक वर्णन हुआ है।

इस काल का जो चित्रण सूर ने किया है उसमें सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किशोरावस्था को प्राप्त होकर भगवान का रूप-सौन्दर्य, उनकी छवि-छटा और लावण्य-माधुर्य और भी अधिक आकर्षक हो जाता है, विशेषतया गोपिकाओं के प्रसंग में। गोपादिकों के द्वारा तो किशोर कृष्ण के श्री-सौन्दर्य की सराहना और चाहना तो बहुत ही कम कराई गयी है, किन्तु गोपिकायें हरि को इस सौन्दर्य पर अपने को निछावर ही करने लगती हैं। यह सौन्दर्य प्रति दिन नव्योत्कर्ष को ही प्राप्त होता जाता है और भगवान के युवक या तरुण रूप में पूर्णतया निखर कर बिखर जाता है। उस समय तो यह केवल गोपिकाओं के लिये ही नहीं वरन् सभी दर्शकों के लिये सर्वथा समाकर्षक और सराहनीय हो जाता है। लगभग समस्त कृष्ण-काव्य में न्यूनाधिक रूप से यही बात पायी जाती है। यों तो कृष्ण की मोहनी-मूर्ति सर्वदैव सब के लिये सर्वथैव सम्मोहक और सराहनीय कही गयी है, परन्तु इस अवस्था की मूर्ति में सौन्दर्य की सुखद स्फूर्ति क्रमशः बढ़ कर पूर्ति पर ही पहुँच सी जाती है।

किशोर-अवस्था में भगवान के मुख्य आभूषण वनमाल, मयूर-पक्ष-निर्मित मंजु मुकुट और मकराकृत कनक-कुण्डल ही रह जाते हैं और पीताम्बर उनका प्रिय वस्त्र हो जाता है। यह भी जान पड़ता है कि इसी काल से गुंजा-माल भी कृष्ण को विशेष प्रिय हो जाती है। यद्यपि इसका वर्णन वन-माल की अपेक्षा कम किया गया है। इसी समय से कृष्ण का वेणु-वादन भी विशेष रूप में प्रारम्भ होता है और उनका झुकाव गोपिकाओं की ओर प्रेम के साथ कुछ अधिक हो चलता है। इसी समय से गोपिकाओं के साथ कृष्ण का रसिकता-मय व्यवहार कुछ विशेषता के साथ चलने लगता है। कृष्ण इसी अवस्था में ग्वाल-वालों को साथ लेकर एक वृन्द (झुण्ड) अपना अलग बना लेते हैं, उसी वृन्द के साथ वे खेलते और गोपिकाओं का

मक्खन और दही लेते और फैलाते हैं। हरि के कुछ घनिष्ट साथियों के नाम भी सूर ने यों दिये हैं:-रैता, पैता, मना, मनसुखा आदि। ये सब नाम भी विचारणीय हैं। इस सम्बन्ध में सूर ने कुछ ऐसे मार्मिक और गूढ़ पद लिखे हैं, जिन्हें आज- कल वे आलोचक अथवा पाठक जो भक्ति-कालीन व्यंजना-पद्धित से पूर्णतया परिचित नहीं हैं, प्रायः अश्लील और उत्तान शृंगारात्मक पद कहा करने का दुस्साहस करते हैं और तनिक यह सोचने का कष्ट नहीं करते कि अपने परमोपास्य तथा सर्वथा समाराध्य अथवा सुसेव्य भगवान का चरित्रांकन करते हुये सूर जैसे भक्त-प्रवर क्यों और किस प्रकार ऐसा लिखने का साहस करते।

वस्तुतः बात यह है कि शृंगार-लीला कर वास्तव में शृंगार रस के अधिष्ठाता सर्व रस-रसिक शिरोमणि भगवान विष्णु ही हैं और वे ही एक मात्र नायक हैं, माया अथवा लक्ष्मी ही उनकी नायिका हैं, संसार या प्रकृति की दोनों शक्तियों—पुरुष शक्ति और स्त्री-शक्ति—Positive and Negative Electricity or Power—के ये ही दोनों देवता हैं, इन्हीं शक्तियों का खेल यह कुतूहल-कारी विश्व-मंडल है। इन्हीं दोनों का पारस्परिक समाकर्षण संसार में प्रेम, प्रीति, स्नेह और अनुराग जैसे शब्दों के द्वारा यथावश्य-कता और यथावसर व्यक्त किया गया है। इन्हीं दोनों शक्तियों का सम्मिलन शृंगार का संयोग-रूप है और इनका ही पार्थक्य वियोग या विप्रलम्भ-रूप है। इनका पार्थक्य तो कहने और देखने के लिये भले ही हो सकता है, किन्तु वस्तुतः आन्तरिक और आध्यात्मिक रूप में इनका सर्वथा चिर अथवा शाश्वत संयोग ही रहता है। यों ये दोनों परस्पर पृथक भी हैं और एक भी हैं।

इसी विचार-धारा के आधार पर कृष्ण सम्बन्धी शृंगारात्मक सत्काव्य में प्रशस्त प्रेम का विशद व्यंजक वर्णन किया गया है।

यदि इस दृष्टि से सूर के काव्य को देखा जाय तो उसमें ऐसे शृंगारात्मक वर्णनों में वस्तुतः विशुद्ध आध्यात्मिक सिद्धान्त और भक्ति विषयक प्रेमोपासना सम्बन्धी मर्म या रस-रहस्य स्पष्ट रूप से मिलते हैं। यहाँ पर इतना समय और स्थान नहीं कि इस विषय पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाला जा सके और सूर के ऐसे पदों की विस्तृत विवेचना की जा सके। अतएव केवल उदाहरणार्थ यहाँ दो एक ऐसे पद ले सकते हैं। ऐसे पदों में से सूर ने एक पद के अन्तिम पद में कृष्ण के लिये लिखा है कि वे अब अधिक धृष्ट हो कर कंचुकी के बन्द भी तोड़ देते हैं। सूर ने कंचुकी के स्थान पर चोली शब्द का प्रयोग किया है। यह शब्द वस्तुतः आत्मा-व्यंजक है और देही का पर्यायवाचक है। अनेकार्थक पद होने से यह कंचुकी का भी रूढ़ि अर्थ देता है। सूर का तात्पर्य यहाँ यह है कि भगवान कृष्ण अब अपने प्रभाव से गोपिकाओं रूपी आत्माओं के बन्धन में डालने वाले गुणों को दूर करते हैं। डोर शब्द यहाँ गुण का भी सूचक है, और इसीलिये चातुर्य-चमत्कार के साथ प्रयुक्त किया गया है।

"अब तोरत चोली बँद-डोर"—

× × ×

इस पद में कितनी गहरी और सुन्दर भाव-व्यंजना है। चोली और डोर पदों से इनके रूढ़ अर्थों के साथ ही कितनी कुशलता और सफलता से मूल अर्थ तथा पर्यायार्थ लिये गये हैं। शब्द बलात् कवि के आदेशानुसार अर्थ देते हैं। यही है कवि का शब्दों पर अधिकार, जैसा गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि—

"कविहिं अरथ आखर बल साँचा"—

अब आगे और देखिये। इसी अवस्था में श्री कृष्ण के ग्वाल-वालों को साथ लेकर फाल्गुन में होली खेलने का भी वर्णन किया गया

है। यह होली-वर्णन भी कृष्ण-काव्य में अपना विशेष स्थान रखता है। इसका विशेष कारण यह प्रतीत होता है कि भगवान कृष्ण ही होली के उत्सव के मूल नेता हैं। असुर-स्त्री होलिका का दाह कर भक्त-वर प्रह्लाद को भगवान हरि ने बचाया था। चूँकि होलिका दुष्टा थी, इसी लिये होलिका की विभूति या भस्म उडाई जाती है। कृष्ण के लिये यह अवसर प्रसन्नता का था, क्योंकि इसी अवसर पर उनके अनन्य भक्त-वर प्रह्लाद होलिका के कैतव-पाश से मुक्त हुए या बचे थे और अग्नि से शुद्ध होकर नितांत नव जीवन उन्होंने प्राप्त किया था। इसी लिये इस उत्सव में कृष्ण विशेष भाग लेते हैं और कृष्ण-काव्य में इसीलिये इसका विशेष वर्णन भी किया गया है। राम-काव्य में इसका कोई भी उल्लेख नहीं। राम बाल्य काल से ही विशेषतया वन में ही रहे। प्रथम तो वे विश्वामित्र के साथ रहे, फिर पिताज्ञा से वन में बसे। तदुपरान्त अयोध्या के राजा होकर राज्य-कार्य करते रहे। होली वे तब कब कैसे खेलते या खिलाते। इसी प्रकार कृष्ण जी भी विजया दशमी का उत्सव नहीं मनाते, कृष्ण-काव्य में इसका कोई उल्लेख नहीं। हाँ दीपावली का उल्लेख है क्योंकि इसका सम्बन्ध हरि-प्रिया श्री लक्ष्मी या रमा से है।

जैसा कहा गया है, इसी समय से कृष्ण और राधिका में पारस्परिक माधुर्य प्रीत का नवांकुर भी उद्भूत हो जाता है, किन्तु होता वह सर्वथा स्वाभाविक और विशुद्ध भाव के साथ है। दोनों साथ साथ खेलते हैं, एक दूसरे के घर भी जाते हैं। इसी से यशोदा और राधा-जननी को भी दोनों के मेल-जोल का पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है। सूर ने बड़ी ही सरस सुन्दरता से इस विशेष प्रणय-प्रसंग का लाभ उठाते हुये यशोदा से कृष्ण के चोरी के छोड़ने के लिये मार्मिक ताड़ना दिलाई है।

"श्याम तेरी फिरि फिरि जाति सगाई—
दूध दही तेरे घर ही बहुत है चोरी छोड़ कन्हाई
काल गई व्रषभानु-घरै ह्वाँ जब तेरी बात चलाई
'सूर' स्याम अवगुन लखि तेरे लौटत बाँभन-नाई।"

× × ×

इसी के साथ गोपिकाओं के प्रति भी श्री कृष्ण का अनुराग मुख्यतया दो रूपों में चलने लगता है। कुछ गोपिकायें तो कृष्ण को अपनी प्रिय सखी राधिका का प्रिय मान कर उनसे स्नेह करती हैं और कुछ राधिका के ही समान उनके प्रति पतिभाव रखकर उन्हें भजना चाहती हैं। कृष्ण भी उन्हें इन्हीं रूपों में मिलते हैं। चन्द्रानना चन्द्रावली जैसी गोपियों से कृष्ण का प्रिय नायक के रूप में अनुराग प्रारम्भ होता है। इस प्रसंग का भी बहुत अधिक मात्रा में वर्णन कृष्ण-काव्य में हुआ है और सूर ने भी इसे अपने काव्य में यथावसर अच्छा स्थान दिया है। इसी समय कृष्ण का वंशी-वादन प्रणयोत्पादिनी रागनी के साथ दिव्य माधुर्य रस की वर्षा करता हुआ संगीत-कौशल के साथ प्रारम्भ होता है और उनके प्रेमोल्लास का परिचय देने लगता है। क्रमशः वह बराबर विकसित होता जाता है और आगे पूर्णता को प्राप्त होता है।

अग्रिम युवा काल में या यों कहना चाहिये कि इसी काल में यौवनोल्लास-विलासमयी भगवान की ललित लीलाओं की भव्य भूमिका बन जाती है। रस-पूर्ण पूर्वानुरागादि के साथ राधा-कृष्ण की दाम्पत्य-रतिमयी भक्ति के भीतर माधुर्य भावमय प्रयतप्रेम का पूर्ण विकास और प्रकाम प्रकाश यहीं से हो चलता है। वही पुनीत प्रेम आगे अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हो कर रास-विलास-रस में रमणीयता से रूपान्तरित हो जाता है। रास को सूर ने बड़ी विमोहिनी व्यंजना के द्वारा, रसिक-

राज व्रजराज प्रफुल्लप्राय सुरसिका राधिका के साथ प्रणय-परिणय का व्याज-रूप सा माना है। इसके उपरान्त ही यौवन-प्रविष्ट श्री हरि की रस-विलासमयी मंजु मन-मोहिनी ललित लीलायें प्रारम्भ होती हैं।

तरुण हरि-चित्रण

सूरदास तथा अन्य भक्ति-कालीन और कला-कालीन सत्कवियों के प्रमुख काव्य-विषयों में कृष्ण का तरुण रूप और उनकी युवा कालीन प्रणय-पूरित सुखद शृंगार की ललित लीलायें ही प्रधान रही हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि कृष्ण-काव्य का परम रमणीय और रुचिर रोचक राग-रस-रंजित और भव्य भक्ति-व्यंजित प्रधान विषय यही है। इसी वर्णन में प्रेम, शृंगार और मधुर भव्य भक्ति का सच्चा स्वरूप चारुता और चतुरता से चित्रित हुआ है। प्रेम के लगभग सभी प्रमुख पटल प्रतिभा-पटुता के द्वारा इसी प्रसंग में सुखद सुन्दरता के साथ स्पष्ट किये गये हैं। शक्ति और शक्तिमान, माया और पुरुष तथा नायिका और नायक के शृंगार के संयोग-वियोग नामक दोनों रूपों का रुचिर रम्य और भावानुभाव-गम्य रोचक रहस्य अथवा धर्म-मर्म इसी भाग में रक्खा गया है।

यहीं भगवान की विश्व-विजयी काम पर विजय और निखिल लोक-मोहनी मोह-माया की पूर्ण पराजय दिखायी गयी है। ललित लौकिकता में अगम अलौकिकता का अनुपम आभास पूर्णतया यहीं मिलता है। सत्व, रजस् और तमस् तीनों गुणों के सभी गूढ़ मर्म— और प्रकृति के ध्रुव धर्म, या स्वाभाव-यहीं मार्मिक विशेषताओं से व्यंजित किये गये हैं। इसीलिये ऐसे गूढ़ और रम्य रहस्यपूर्ण गहन-गम्भीर स्थल को सर्वथा समझने-समझाने में कोविदों को भी कठिनाई होती है, जिसके कारण कतिपय निपुण आलोचकों और पटु पाठकों ने इस स्थल की बहुतेरी बातों पर कुछ अन्यथा आक्षेप से भी किये हैं।

स्थानाभाव से तो इसका विशद विवेचन नहीं किया जाता, किन्तु इस आवश्यक विषय पर यहाँ केवल कुछ आवश्यक सांकेतिक व्याख्या के साथ उदाहरणार्थ संक्षिप्त कथन किया जाता है।

लोकाभिराम घनश्याम श्रीकृष्ण जी भगवान विष्णु और नारायण के पूर्ण अवतार से ही माने गये हैं और उनके लिये कहा गया है— "कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्:—" कृष्ण स्वयम् भगवान हैं। रस-सिद्धांत के विवेचन में भगवान विष्णु को श्रृंगार रस का और परात्पर नारायण को शान्त रस का देवता या अधिष्ठाता कहा गया है। हैं दोनों वस्तुतः एक ही, किन्तु भाव भेद से इनके रूपाकार और गुण-स्वभाव तथा संज्ञादि में भेद है। यद्यपि राम भी विष्णु के ही अवतार हैं किन्तु वे वस्तुतः परम ब्रह्म के अंशावतार ही माने जाकर विशेषतया मर्य्यादा-पुरुषोत्तम के ही रूप में कहे गये हैं, इसीलिये उनमें इन दोनों रूपों का सुन्दर समन्वय वैसा नहीं दिखाया जा सका जैसा श्री कृष्ण के रूप में दिखाया गया है। रसों के क्रम में श्रृंगार रस इसीलिये सर्व प्रथम स्थान पाता है चूंकि भगवान विष्णु वैष्णव सिद्धान्तानुसार देवादिदेव हैं, और शान्त रस नवम अथवा अन्तिम रस इसलिये कहा गया है चूँकि नारायण-स्वरूप भगवान ही अन्तिम देवता होकर शान्ति-मूर्ति और मायामय सर्व संसार से पृथक रहकर निर्वेद के पूर्ण साकार स्वरूप ही हैं। इन दोनों रसों के बीच के अन्य रस समयानुसार भगवान के ही अन्यान्य भाव-प्रभाव-जन्म रूप हैं।

भगवान कृष्ण का प्रथम अनूप रूप अतएव मोहनमय, अनुपम दिव्य श्रृंगार-मय, परम प्रेममय और अखिल सुखद सौंदर्यमय है। इसी के पश्चात् और इसी के साथ ही उनका योगेश्वर-स्वरूप भी रक्खा गया है और यह भी स्पष्टतया कहा गया है कि "यत्र योगेश्वरः कृष्णः तत्रच विजयो ध्रुवम्" अर्थात् जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं वहाँ विजय ध्रुव है।

इसी के साथ कृष्ण को रसिक-राज, मोहन, मन-मोहन जैसे नामों से भी पुकारा गया है। श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति या प्रीति है जिससे तात्पर्य है समाकर्षण शक्ति और अनुरक्ति मयी लयता या लीनता का, समस्त प्रकृति में यही आकर्षण शक्ति मूलतः सर्वत्र सर्वदा कार्य किया करती है और प्रकृति के कण कण को परस्पर समाकृष्ट कर संयुक्त किये रहती है। ऋण (Negative) और धन (Positive) शक्ति का परम्पराकर्षणही विश्व में प्रेम कहा जाता है, यह इसीलिये परम दिव्य-व्यापक और शाश्वत माना गया है। इसी विचार से इससे सम्बन्ध रखने वाला श्रृंगार रस भी रस-राज होकर विश्व-व्यापी और परम प्रतापी ठहराया गया है। इसी प्रकार शान्त रस भी अंतिम रस बताया गया है क्योंकि उसके देवता या अधिष्ठाता परात्पर नारायण हैं। नारायण शब्द का मूलार्थ है नार अर्थात् ज्ञान का अयण अर्थात् घर या अधिकरण (निवास या आकर-स्थान) और आलय। वस्तुतः बिना वास्तविक ज्ञान के निर्वेद का भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

ज्ञान से ही मायामय विश्व से वास्तविक विरक्ति और परमात्मानुरक्तिमयी भव्य भक्ति की जाग्रति होती है। इस प्रकार शान्त के मूल भाव में विरक्ति के साथ ही अनुरक्ति की भी, जिसका सीधा सम्बन्ध श्रृंगार के स्थायी भाव रति से है, सत्ता रहती है। शान्त रस में, इस लिये कहना चाहिये, अनुरक्ति-विरक्ति अथवा प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों ही का पूर्ण सामंजस्य या समन्वय हो जाता है। ज्ञान-योग तथा प्रेम और बोध-वृत्ति और भावना वृत्ति का, जिसके कारण पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है, यहीं एकीकरण होता है। इस प्रकार शान्त रस इस विचार से श्रृंगार रस का यथार्थतया पूर्ण सुविकसित रूप ही ठहरता है। परात्पर नारायण या ब्रह्म में शक्ति और शक्तिमान अथवा माया-और पुरुष तथा स्त्री-पुरुष या नायक-नायिका (प्रेमी-प्रेमिका) का द्वैतत्व सर्वथा दूर हो जाता है और अद्वैतता आ जाती है। बस इसी

से यहाँ नायक-नायिका एक हो जाते और बस एक नायक ही रह जाता है। शान्त रस के निर्वेद का उद्देश्य भी वस्तुतः यही है। प्रेम-प्रगति की परम शान्ति यहीं है। प्रेम-सम्बन्धी उक्ति—"इहां एक ते दूसरे आँक नहीं"—यहीं चरितार्थ होती है। ज्ञान-मार्ग का कैवल्य-मर्म भी यही है। भक्ति और ज्ञान-योग का यहीं सम्बन्ध है। अब शृंगार रस के देवता विष्णु हैं, जिनकी प्रिया श्री या रमा हैं, यह लोक-लक्ष्मी हैं, परम सुषमा समा की प्रयत प्रतिमा होकर भी वे विष्णु की परम प्रिया, पावन प्रभु-पद-सेविका, चारु चरणोपासिका और प्रिय दासिका हैं। वे जल या रस से उत्पन्न हुई और रस-स्वरूप ब्रह्म के ही साथ रहती हैं।

रस (जल) स्वरूप ब्रह्म की ही श्री शक्ति रमा है—तब वे क्यों न उसके साथ सेविका हो रहें।

श्री या लक्ष्मी पय (जल और सुधा या पीयूष) अथवा अमृत से उत्पन्न हैं, अर्थात् अमरता या शाश्वतता के गुण से उद्भूत हुई है, और शान्ताकार को प्राप्त हुई हैं अर्थात् वे अमरत्व-शक्ति-स्वरूप, पय या क्षीररूपी शुद्धोज्वल सतोगुण-सम्भूता श्री या कांति अथवा प्रशस्त प्रकामाभिराम प्रकाशाभा हैं।

इसी विचार से वैष्णव धर्म में माधुर्य या दाम्पत्य भाव (कृष्णोपासना में) और दास्य भाव (रामोपासना में) को विशेषतया प्राधान्य दिया जाता है। साथ ही शृंगार रस की प्रीति या रति के बिना द्वैतता की भावना वस्तुतः चलती ही नहीं, यद्यपि पूर्णता को प्राप्त होकर यह द्वैतता भी अंततोगत्वा अद्वैतता पर पहुँच जाती है और रमा-रमेश दो होकर भी अन्त में एक ही या भिन्न होकर (कहने के ही लिये) भी अभिन्न होते हैं:—जिसमें भक्ति का द्वैताद्वैत और भेदाभेद के सिद्धान्त सर्वथा सार्थ सिद्ध हो जाते हैं। प्रेम जन्य यह

एकत्व योग ज्ञान-गत कैवल्य है।

माया और पुरुष (माया-पति) का मिलन ही संयोगमय है और इनका पार्थक्य ही वियोग है। श्रृंगार के इसी से यह दोनों दो पक्ष हैं। यह भी यहाँ तनिक विचारणीय है कि श्री की उत्पत्ति जलेश-जल (जीवन) से है, अर्थात् माया का स्पष्ट रूप व्यक्त रस-तत्व है, तत्वपश्चात् पृथ्वी तत्व के आ जाने और रस या जल से पूर्ण हो जाने पर माया का रूप प्रकट होता है तभी उससे माया-जन्य जगत भी जन्म पाता है। अन्यथा अकेले माया ही क्या कर सकती थी, इसी से माया रूप श्री का सम्बन्ध उस माया-पति विष्णु से होता है जो समस्त आकर्षण या प्रेम-शक्ति का एक मात्र मुख्य केन्द्र है। यही राधा-कृष्ण और भूमिजा, सीता और राम का सम्बन्ध है। माया और पुरुष के विकार से जनित कर्दम या (जल) से उद्भूत मल या विकारकृत कमल (कंज) हुआ और उससे चतुर्दिगाभिमुख चार मुख वाले ब्रह्मा जी हुए, जिनसे फिर आगे सारी सृष्टि हो चली। इस प्रकार मूल रस श्रृंगार के आगे चलकर यथावश्यकता अन्यान्य रस निमित्त मात्र के रूप में उद्भूत हुये।

"रसाल-रस-समीक्षा से"

कृष्ण-काव्य में उनका तरुण नायक-रूप श्रृंगार और प्रेम से पूर्णतया पूर्ण है और यही रूप उनका विशेष रूप से लिया भी गया है और केवल इसी रूप को सुकवियों ने विविध प्रकार के राग-रंगों से रंजित और व्यंजित भी किया है। कृष्ण का योगेश्वर-रूप कृष्ण-काव्य के अन्तर्गत कहीं भी सर्वथा स्पष्ट शब्दों में तो नहीं रक्खा गया किन्तु यत्र तत्र ध्वनित सा अवश्यमेव किया गया है। इसका एक मुख्य कारण यही जान पड़ता है कि सगुण और साकार होकर भगवान कृष्ण चूँकि अपनी महा माया के साथ लोक-कल्याण के लिये

लोक में अवतरित हुये हैं, इसीलिये उनका शृंगार-प्रधान स्वरूप ही इस दशा में विशेष प्रधान और स्पष्ट रहा है और उनका योगेश्वर-रूप तथा उनका योग-बल (योग-माया के रूप में) केवल उनकी लोक-लीलाओं में ही सहायक सा हो कर कार्य करता है।

वह प्रसङ्ग सूक्ष्म और गूढ़ है और गुणमय आवरण से समावृत होकर सर्वत्र प्राप्त सा है, इसलिये बड़ी गम्भीरता से विचार करने पर ही वह अवगत होता है अन्यथा हरिका गुणात्मक आवरण ही संसार में विशेषतया स्पष्ट रहता है। रामावतार विषयक राम-काव्य में तो श्रीराम की त्रिगुणात्मक मूर्ति स्फूर्तिमय सत्व गुण की पूर्ति या प्रधानता रखती है, किन्तु कृष्ण-काव्य के कृष्णावतार में सत्व और रजस् दो गुणों का विशेष प्राधान्य और प्राबल्य रहता है। कहीं कहीं और किसी किसी लीला के प्रसङ्ग में तो तृतीय गुण या तमस् का भी कुछ आभास सा जान पड़ता है।

व्यापक रूप से श्री कृष्ण की प्रायः सभी सुखद लीलाओं में रजोगुण की ही विशेषता मिलती है और वह भी सत्व से परिपुष्ट होती हुई। इसीलिये उन लीलाओं में रजोगुण-सम्बन्धी भावनायें, जैसे शृङ्गार-जन्य रति या प्रीति आदि के सुन्दर स्वरूप और उसके रम्यरस को ही सर्वत्र विशेष प्रबलता और प्रधानता मिली है। हाँ, इन सब भाव-भावनाओं में सात्विक शुद्धता अवश्यमेव सन्निहित रहती है। इस प्रकार तरुण कृष्ण की शृङ्गार-प्रेममयी ललित लीलाओं के अन्तस्तल में अनवरत रूप से सात्विक शुद्धतामय आध्यात्मिक भाव की मंजु अन्तर्धारा सर्वत्र न्यूनाधिक रूप से प्रवाहित होती रहती है, किन्तु उस दिव्य भावधारा को, वस्तुतः उसकी गहराई में प्रवेश करने पर ही देखा जा सकता है, इसी बात को यों भी कह सकते हैं कि वास्तव में कृष्ण का चारु चरित्र विचार करने में बड़ा ही विचित्र, पवित्र, गूढ़ और गम्भीर

है। हाँ, ऊपर से देखने में भले ही वह लौकिकतामय हो कर सरल, सरस और सुखद सा प्रतिभात होता है किन्तु वस्तुतः अन्दर से वह अनुपम अलौकिकतामय ही है।

इस बात के प्रवल प्रमाण सत्कवियों के रचे हुए कृष्ण-काव्य और सरस रस-काव्य की परम्परा में स्पष्ट रूप से मिलते हैं। जब तक इस परम्परा को कोई विचक्षण व्यक्ति यथेष्ठ रूप से न जान ले तब तक श्री कृष्ण का यह क्षणाक्षण में विलक्षण पवित्र चारु चरित्र उसके लिए विशेषतया भ्रमात्मक सा ही प्रतीत होता है और वह इस चरित्र को ऊपर से देखकर नितान्त लोकगत मानवीय चरित्र ही सा समझता हुआ कुछ का कुछ मान सकता है। सूरदास से लेकर कृष्ण-काव्य के जितने भी आगे सत् कवि हुये हैं उन सबों ने इस परम्परा से यथेष्ट परिचय प्राप्त कर बड़ी चारुता और चतुरता से इस का सुन्दर निर्वाह और निरूपण किया है।

युवक कृष्ण के चित्रण में सूरदास जी ने मुख्यतया वर्णन किया है प्रथम तो कृष्ण की स्वरूपाकृति और उनके शरीर के दिव्याभामय अलौकिक सौन्दर्य का, दूसरे फिर उनकी नृत्य-गीत कला के मोहन-माधुर्य का, तीसरे फिर उनकी सुखद सरसता और राग रस रसिकता का, चौथे उनकी परम स्नेह-स्निग्धता तथा प्रणय-पालन-पटुता का, और पाचंवें फिर उनकी विश्व-वशीकरता और सर्व चराचर-विमोहकता का। इसी के अन्तर्गत रूप-राग-रस-विलास, हास-परिहास, मोद-प्रमोद और विनोदामोह-विहारादि भी आ जाते हैं। कृष्ण के कुतूहलकारक क्रीड़ा-कौतुक भी इन के साथ ही दिखाये गये हैं। काव्य-कला-कुशल कवि की कोमल कल्पना मन की मनोरंजन-प्रियता-वृत्ति के साथ विचित्र चित्र-रंजनानुरंजनामयी अतिरंजना लेकर कमनीयता के साथ यहीं मिलती है।

अब इस प्रसंग में सबसे प्रथम श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन को लीजियेः—कृष्ण के तरुण शरीर के सौंदर्य का वर्णन करते हुये शिख-नख वर्णन-परपाटी से सूरदास ने शरीर के प्रमुख अंगों-प्रत्यंगों का यथाक्रम विचित्र चारु चित्रात्मक वर्णन किया है। इस वर्णन को उन्होंने अलंकृत रूप देते हुये बहुत ही भाव-व्यंजक और राग-रस-विलास से मनोरंजक बनाया है। चित्रोपम तथा रसार्थ-व्यंजक अलंकारों की सफल प्रयोग-पटुता और उनकी चारु चातुर्यमयी चरितार्थता वास्तव में भव्य भागवत काव्य में ही विशेषतया प्रकट होती है। साधारण नर-काव्य में तो अलंकारों आदि का प्रयोग अवश्यमेव विशेषतया भाषा और शैली के सौंदर्य के लिये ही प्रायः होता है।

जिन प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग सूरदास ने कृष्ण के अंगों-प्रत्यंगों के लिये किया है, वे उपमान वास्तव में भगवान के उन अनन्त शोभा-आभा रखने वाले अंगों-प्रत्यंगों से बहुत ही न्यून शोभा रखने वाले हैं और सत्यतः भगवत्सौंदर्य-श्री से ही वे शोभा पाते हैं। किन्तु किसी कवि के लिये तब भागवत-सौंदर्य के चित्रण करने में और साधन ही क्या हो सकते हैं। किसी भी वस्तु को, जो अप्रगट या अप्रत्यक्ष है, भाषा के द्वारा प्रकट करने के लिये कवि को उन सांसारिक प्रत्यक्ष और प्रस्तुत वस्तुओं को ही लेना पड़ता है जो वर्ण्य वस्तु के साथ अधिकाधिक सादृश्य और साम्य रखती हैं किन्तु भगवान के अंग-प्रत्यंग के वर्णन करने में इस प्रकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि जितने भी लौकिक उपमान उपलब्ध हैं वे सब उनके समक्ष नगण्य ही ठहरते हैं। इसलिये सादृश्य और साम्य का प्रश्न ही कहीं नहीं उठता, तब उनको प्रधानता कैसे दी जा सकती है। इसी विचार से सादृश्य-मूलक अलंकारों को हरि-गात्रांगादि के वर्णन में प्राधान्य नहीं दिया जा सकता। प्रधानता यदि किसी प्रकार किन्हीं अलंकारों को दी जा सकती है तो उन अलंकारों को

ही, जो प्रस्तुत वस्तु का ज्ञान कराते हुये उस प्रस्तुत को ऊँचा उठाकर कल्पना-गत आदर्श के रूप में उपस्थित कर सकते हैं। जैसेः—उत्प्रेक्षादि। इसलिये इस प्रसंग में प्रायः उत्प्रेक्षा अलंकार का ही प्राचुर्य और बाहुल्य मिलता है, यह बात न केवल सूरदास के ही पदों में प्राप्त होती है वरन् तुलसीदास के काव्य में भी यही बात मिलती है, और इन दोनों से आगे भक्ति और कला कालीन अन्य सत् कवियों के भगवद् विषयक काव्यों में भी उत्प्रेक्षा की ही विशेष महत्ता और सत्ता है। जहाँ प्रधानता केवल लौकिक रूप को ही विशेषतया दी गयी है वहाँ अवश्यमेव रूपक, (सांग और निरंग) तथा उपमा आदि साम्य-मूलक अलंकारों का भी प्रायः प्रयोग किया गया है।

श्रीकृष्ण के सौंदर्य-वर्णन में सूरदास ने अंगों-प्रत्यंगों के लिये उन्हीं उपमानों का उपयोग किया है, जिनमें स्वभावतः सब प्रकार लोक-मान्य पवित्रता, शुद्धता और सात्विकता का भाव ही प्रधान माना जाता है। प्रायः इन शुद्धतादि भावों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिये उपयुक्त उपमानों के साथ सहेतुक और विशेषार्थ-व्यंजक विशेषणादिकों की सहायता से भी कार्य किया गया है।

कृष्ण के अंगों-प्रत्यंगों में से काम्य कोमल, स्निग्ध तथा कुंचित कुन्तल-कलाप, भृकुटि-युग्म, सरस-नेत्र, सुन्दर श्रुति, न्यारी नासिका, मधुरारुण अधर, ललित कलित कल कपोल, गम्भीर ग्रीवा, विशद वक्षःस्थल, रुचिर रोम-राजी (रोमावली) तरल त्रिबली, प्रिय प्रयत पद-पद्म और कोमल कर-कंज तथा कभी कभी सुन्दर रुचिराभ नखों का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। इसी के साथ आगे वेणु-वादन के समय में श्रीकृष्ण की स्थिति विशेष या गात्रांग-भंगिमा तथा नृत्य-गीतादि का भी यथास्थान उपयुक्त उल्लेख किया गया है।

मंजुल मंद मुसकान-माधुरी तो प्रायः सर्वत्रैव दिखलायी गयी है, क्योंकि हरि संतत प्रसन्नवदन हैं। इसी वर्णन में रुचिर रत्नावलि-खचित हिरण्य-रचित अनुपम आभूषणों की दिव्य छवि-छटा का भी प्रायः कथन किया गया है। सारे वर्णन से यह बराबर व्यंजित होता रहता है कि यह अनूप रम्य रूप सांसारिक न होकर नितांतमेव दिव्य या दैवी ही है। सौम्य सुकुमारता, स्निग्ध सरसता और कान्ति कमनीयता के साथ ललित लावण्यमय मंजु मुसकान-मोहनी की मादक मधुरता का कथन सर्वत्र स्पष्ट अथवा व्यंजित रूप से किया गया है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, हरि-सौन्दर्य के वर्णन में अन्य सुकवियों की भाँति सूरदास ने भी सर्वत्र सामुद्रिक शास्त्र-विहित अंगों के समानुपातिक, सुगठित और आदर्श रूपों के ही विचार को प्रधान रक्खा है। सौन्दर्य-वर्णन में उन्होंने यह भी बराबर ही ध्वनित किया है कि यह सौन्दर्य प्रति पल न्यारी नवीनता के साथ निखरता और बिखरता रहता है। इसीलिये यह अलौकिक और अकथनीय होता हुआ संतत अपलक अवलोकनीय है। हाँ, पूर्णरूप से पूरे संतोष के साथ यह देखा और परेखा भी नहीं जा सकता है, नेह-नेमी, पानिप-प्रेमी सौंदर्योपासक तथा लावण्य-लोभी मन में इस रूप के सर्वथा समवलोकन की ही सदैव समुत्सुकता अथवा समुत्कंठा रमी-जमी रहती है, किन्तु स्वाभाविक निमिष-वाधा से सौन्दर्य-रसा-स्वादन-लोभी लोचन मन की इस ललाम लालसा को कदापि पूरा नहीं कर पाते और न कर ही सकते हैं। गोपिकायें इसीलिये बराबर कृष्ण-मूर्ति के दर्शनार्थ विषम व्याकुल रहती हैं। देख देख वे थकती तो हैं किन्तु छकती नहीं। कितने ही सुन्दर पद सूरदास ने इसी प्रसंग पर लिखे हैं। इसी प्रकार कीर्ति-कुमारी देवी राधिका के भी दिव्य आंगिक सौन्दर्य का व्यंजना-वलित और ललित वर्णन सूरदास ने किया है और कितने ही सरस श्लाध्य पद लिखे हैं। भिन्न भिन्न दृष्टि-कोणों से भी हरि-सौन्दर्यांकन

या चित्रण का प्रबल प्रयत्न करते हुये उसे सर्वथा स्पष्ट करने का प्रशस्त प्रयास सूरदास जी ने किया था और कितने ही विविध प्रभाव-भाव-व्यंजक अलंकारों से उसे अभिव्यंजित करने की चारु चेष्टा भी की है।

जैसा अलंकृत दिव्य सौन्दर्य है, उसे वैसा ही व्यक्त करने के लिये उन्होंने अपनी भाषा को भी रुचि-रंचक और भाव-व्यंजक रुचिर रूप में रखने का पूर्णतया विचार कर सूरदास ने अपनी भाषा को प्रतिभा-प्रभा-पूर्ण विविध चमत्कृत आभूषणों से आभूषित किया है। बिना ऐसा किये हुए उसमें यथार्थतया हरि-सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यंजक क्षमता भी न आती। कुछ आलोचकों का ऐसा (यद्यपि यह अनर्गल ही सा है) विचार है कि कृष्ण-काव्य-कारों ने भाषा को विविध प्रकार के आभूषणों से इतना भाराक्रान्त कर दिया है कि उसका सुष्ठ स्वाभाविक रूप देखा ही नहीं जा सकता, वह भूषण-भार से दबी सी रहती है। भाषा-भूषण-भार से शिथिल होकर अपने भावों को पूर्ण-तया स्पष्ट करने में भी वह सर्वथा समर्थ नहीं रह जाती। वस्तुतः इस प्रकार के कथनों में कोई भी विशेष सार नहीं, ऐसा मानने या कहने-वाले आलोचक प्रायः इस बात पर विचार करना भूल जाते हैं कि सूरदास जैसे सत् कवियों ने अलंकृत भाषा का उपयोग इसीलिये किया है कि बिना वैसी अलंकृत भाषा के भगवद् सौन्दर्य का स्पष्टीकरण किसी प्रकार हो ही नहीं सकता।

अलंकार भाषा को सज्जित करने वाले ही नहीं, वरन् हृद्गत भावादि के स्पष्टीकरण के भी विशेष ढंग या विधान हैं। इनसे भाव प्रभावपूर्ण हो जाता तथा चमक उठता है। इसीलिये कृष्ण के अकथनीय और अतुलनीय सौन्दर्य के प्रकाशन में विविध प्रकार के भावाभिव्यंजक भाषा-विधानों या ढङ्गों का, जिन्हें अलंकार कहते

हैं, उपयोग करना अनिवार्य ही सा ठहरता है। उदाहरण के लिये कितने ही पद लिये जा सकते हैं। सूरदास जी हरि के शरीर-सौन्दर्य को विचित्र रंग-ढंग से ही चित्रित करते हैं। "देख्यो एक अनूपम बाग" आदि पदों में सूर ने केवल भाषा-सौन्दर्य-प्रवर्धक प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग ही नहीं किया और केवल सुन्दर उपमानों की एक माला ही नहीं बनाई है वरन् उनसे बहुत गहरे भाव भी व्यंजित किये गये हैं। उपमेय तो ऐसे ही हैं कि वे केवल सध्यान कल्पना के ही द्वारा देखे जा सकते हैं। यदि भगवत् कृपा से सौभाग्यवशात् किसी भावुक भक्त के समक्ष हरि-रूप प्रत्यक्ष भी हुआ तो वह उसकी सुन्दरता-सुधा से छक कर उसमें ही ऐसा रम-विरम जाता है, और शान्ति-सुख में लीन-विलीन हो जाता है कि फिर उसे अपना भी स्मरण नहीं रह जाता। तब वह उस सौंदर्य का कथन ही भला क्या कर सकता है।

इसीलिये ऐसे प्रसंग में उपमेयादि को सूरदास व्यंक्त ही नहीं करते और केवल उनके प्रसिद्ध उपमानों को ही रख कर उन दिव्य उपमेयों को चातुरी से व्यंजित करते हैं। वस्तुतः ऐसी अवस्था में कवि के लिये काव्य-गत या कोविद-कुल-प्रचलित तथा कवि-परम्परागत प्रसिद्ध उपमानों का उल्लेख करना ही अनिवार्य होता है। इसीलिए सूरदास लिखते हैं; "युगल कमल पर गज-वर क्रीड़त-तापर सिंह करत अनुराग" इत्यादि। विचारने का विषय यहाँ पर यह है कि शरीर-रूपी बाग का तो वर्णन किया जा रहा है और उसमें कमल के ऊपर गज क्रीड़ा करता है और उस पर सिंह का भी अनुराग है, ऐसा विरोध-मूलक कथन किया जा रहा है, क्या ऐसा किया जा सकता है? क्योंकि बाग में प्रायः गज और सिंह दोनों नहीं पाये जाते, वन में भले ही ये मिलते हों। फिर और आगे चलिये और देखिये कि एक दूसरे के ऊपर अपना आसन जमाये हुए है, ऐसा देखने

को कदापि कहीं नहीं मिलता। इसीलिये तो इस बाग को अनुपम बाग कहा गया है। वास्तव में यह विचित्र ही बात है, क्योंकि इस प्रकार का विरोध यहीं चरितार्थ होता है, अन्यत्र कदापि नहीं। कोमल कमल पर गज और गज पर उसके शत्रु सिंह का सानुराग रहना केवल विरोधाभास ही नहीं प्रगट करता है, वरन् एक विशेष भाव की गूढ़ व्यंजना देता है।

रूपकातिशयोक्ति में यह विरोधाभास यथार्थतया सार्थकता, साभिप्रायता और सहेतुकता के साथ है। इसी प्रकार सूरदास का ऐसा प्रत्येक पद ऐसे प्रसंगों में बहुत ही गम्भीर और मार्मिक विचार-व्यंजक है। अलंकारों का उसमें जहाँ जब प्रयोग किया गया है वह केवल भाषा-सौन्दर्य के ही लिये नहीं किया गया, वरन् बिना उस अलंकार के अभीष्ट हार्दिक भाव किसी भी और प्रकार से व्यक्त ही नहीं किया जा सकता है। यहाँ इस वर्णन से यह भी ध्वनित होता है कि वर्णनीय वस्तु वह है जिस पर लोक-दृष्टि के लिए जो विरोध है, वही उस पर सर्वथा चरितार्थ भी होता है, अर्थात् वर्णनीय वस्तु दिव्य और दैवी है। लौकिक वस्तु पर दो विरोधी गुण सर्वथा सर्वत्र कदापि चरितार्थ नहीं होते। इसी से यह भी ध्वनित है कि प्रस्तुत पद-कमल ऐसे हैं जिन पर वह गज अर्थात् गणेश जी भी खेलते हैं, जिन गणेश जी पर पंचानन अर्थात् भगवान शंकर जी तथा सिंह-वाहिनी देवी पार्वती का भी अनुराग है। यहाँ सिंह पद से पंचानन अर्थात् शिवजी की तथा सिंह-वाहिनी देवी की भी ध्वनि निकलती है, अथवा सिंह से देवी शिवा का केवल वाहन भी ध्वनित होता है।

तात्पर्य यह है कि उन चरण-कमलों में गणेश और शिवाशिव भी अनुराग रखते हैं। कैसी सुन्दर सार्थक और गंभीर भाव-व्यंजना यहाँ है। प्रयुक्त पद सिंह से तत्पर्याय पद का श्लिष्टार्थ किस चातुरी से व्यंजित

किया गया है और सांनिध्य के प्रभाव से अपने अर्थ के व्यक्त करने में सर्वथा स्पष्टतया क्षम भी है। यही कवि का काव्य-कौशल है, उसकी प्रशस्त प्रतिभा की प्रकाम पटुता है, और उसका अप्रतिम भाषाधिकार है। केवल इसी सांकेतिक सूक्ष्म व्याख्या से यह अब स्पष्ट है कि सूर का अलंकार-प्रयोग कितना चतुर चित-चोर और चारु चमत्कारमय होकर हृदयानुरंजक, भाव-व्यंजक और सिद्धान्त से पोषकता प्राप्त करने के साथ सर्वथा सार्थक है, केवल काव्य-कला-कौशल, शैली सौष्ठव और भाषा-सौन्दर्य के ही लिये यह नहीं है।

श्री कृष्ण की तरुणावस्था की वह लीला, जिसका बड़े चतुर ढंगों और गाढे रंगों के साथ चारु चित्रण किया गया है, रम्य रास-लीला है। इस लीला में मुख्यतया दो विशेष पक्ष हैं। एक तो आध्यात्मिक सिद्धान्तपक्ष और दूसरा है लौकिकतावेष्टित अलौकिक शृंगार-पक्ष। दोनों पक्षों का ऐसा सुन्दर और सफल समन्वय किया गया है कि सारा वर्णन एक ओर से तो शृंगार रस-पूर्ण है और दूसरी ओर से भक्ति-भाव और शुद्ध प्रेम से समन्वित है। इसीलिये यह बड़ा ही रुचिर, रोचक और मोह-मद-मोचक है। यद्यपि इस प्रसंग को सूरदास ने पूर्णतया श्रीमद्भागवत से ही विशेषतया लिया है, किन्तु स्थान स्थान पर इसमें उन्होंने अपनी विशेषता भी बड़े चातुर्य-चमत्कार से दिखलायी है। इसी रास को उन्होंने ऐसे रूप में रक्खा है, जिससे यह प्रतीत होता है कि यह एक प्रकार से राधा-कृष्ण की पारस्परिक अलौकिक अनुरक्ति का केवल एक व्याज मात्र है। इसमें कृष्ण का परम मोहन-रूप नृत्य और संगीत कला की सजीव साकारता के साथ उपस्थित किया गया है।

यद्यपि कृष्ण के साथ इस विलासमय रास-नृत्य में अन्य गोपिकायें भी सुरुचि के साथ भाग लेती हैं, किन्तु वस्तुतः यह रास रस-विलास केन्द्रीभूत होता है राधा और कृष्ण में ही। माया और पुरुष से प्रेरित

हुई मुक्तात्माओं का यह विलासानंद-महोत्सव या कल कौतुक है। रास वस्तुतः वैज्ञानिक सिद्धान्त का काव्य-रीति से स्पष्टीकरण ही है। इस रास-नृत्य में राधा और कृष्ण केन्द्र में रहकर एक दूसरे के चारों ओर घूमते हुए नृत्य करते हैं, उनके चारों ओर गोपी और कृष्ण एक मंजुल माला बनाकर नृत्य करते हैं। वैज्ञानिक विचार से राधा-कृष्ण ऋणाणु और धनाणु हैं, जो वेग से एक दूसरे के चारों ओर घूमते या चक्कर लगाते हैं, इनके ही चारों ओर अन्य परिमाणु भी (ऋण और धन नामक) घूमते रहते हैं। सारी शक्ति एक केन्द्र में केन्द्रीभूत रहती है और उसी की ओर सब परिमाणु सदा समाकृष्ट रहते हैं, अथवा आध्यात्मिक रूप में यों कहा जा सकता है कि राधा वह मूल योग माया-शक्ति है जो सदा ब्रह्म के साथ रहती है। गोपियाँ उसी की विविध रूपाकृतियाँ हैं, जिन सब के साथ ब्रह्म रूपी कृष्ण बराबर रहते हैं, इन्हीं का नृत्य संसार का नृत्य या नाटक है।

युवक कृष्ण के सम्बन्ध में दो और बातें भी इसी प्रसंग में दिखलायी गयी हैं, एक तो है राधिका के प्रति उनका अनन्य प्रेम और दूसरी है अन्य गोपिकाओं के साथ उनका विहार और रस-विलास। यद्यपि इस प्रकार कृष्ण का प्रेम विभाजित हुआ सा होता हुआ जान पड़ता है, जिसके लिये राधा और अन्य कृष्ण-प्रिया गोपिकायें कृष्ण को प्रेमोपालम्भ भी देती हैं। किन्तु रहती हैं वे सब बराबर सदैव कृष्ण पर विमोहित या रीझी ही। गोपी-कृष्ण के प्रेम को लेकर सूरदास ने शृंगार रस का कोना कोना देख डाला है और बड़ी ही मार्मिकता के साथ शृंगार और प्रेम की लगभग सभी प्रमुख भव्य भावनायें और आदर्श मानव-प्रकृति की एतत् सम्बन्धी विशेषतायें अथवा वृतियाँ स्वाभाविकता के साथ ही धर्म-मर्म सम्बन्धिनी गूढ़ व्यंजकता से युक्त सूर ने चित्रित की हैं।

निष्कर्ष-रूप में अब यों कहना चाहिये कि इस प्रसंग में सूरदास ने श्री कृष्ण की रस-रसिकता, तथा सौन्दर्य और प्रणय की मंजु मन-मोहनी का चारु चातुर्य-माधुर्य के साथ अत्यद्भुत चित्रण किया है। यह अवश्यमेव सत्य है कि यह सारा प्रसंग विशेषतया भागवत पर ही सर्वथा समाधारित है, किन्तु भागवत के भावों को लेकर सूर ने ब्रजभाषा में सर्वथा स्तुत्य सफलता के साथ ऐसा निवाहा है कि बस उसकी चाहना और भूरि भूरि सराहना ही की जा सकती है। इसी प्रसंग में भगवान कृष्ण की गोपी-चीर-हरण-लीला भी ली जा सकती है। इसी ललित लीला को लेकर प्रायः कृष्ण के चरित्र को लांछित करने का दूषित प्रयत्न अनधिकारी आलोचकों के द्वारा किया जाता है। इस सम्बंध में अन्य धर्मानुलम्बियों तथा मता-नुयायियों का विचार तो दूर रहा, हमारे ही कुछ तथा-कथित आलोचकों ने भी इसे अश्लील और शृंगार का उत्तान रूप कहा है। किन्तु यहाँ यह स्मरणीय है कि इसमें सूर का तो कोई अपना विशेष कार्य है ही नहीं। सूर ने इस लीला पर तो बहुत अधिक लिखा भी नहीं।

यह प्रसंग तो संस्कृत के कृष्ण-काव्य में भी लगभग इसी प्रकार से लिखा गया है, और इस सम्बन्ध में धार्मिक विचार-धारा भी बराबर इसी प्रकार रही है कि यह प्रसंग वास्तव में उस अध्यात्म तत्व अथवा रहस्य को लीलाओं के व्याज से व्यक्त करता है, जिसे संक्षेप में यों कह सकते हैं कि भगवान भूत-भावन उन भक्त आत्माओं को तभी अपनाते हैं जब वे लौकिक-मर्यादा के आवरण को सर्वथा त्याग कर लोकेतर स्तर पर पहुँच अपने नितान्त नग्न अथवा वास्तविक रूप में जग-जीवन से बाहर आकर भगवान की ओर चलती या आती हैं।

जिन्हें लोक-लज्जा और लोक-मर्य्यादा का त्यागना अभीष्ट नहीं, जिन्हें ऐसा करने में भय-संकोच होता है, वे आत्मायें भगवान के प्राप्त

करने में सफलीभूत नहीं होती। यह भी भगवान की ही अनुग्रह या कृपा है जो जग-जीवन-सरिता के जीवन में प्रविष्ट हुई आत्मा को उससे बाहर निकल आने के लिये प्रेरित करती हुई ऊपरी मायावरण का अपहरण करती है। इस रहस्य को सर्वथा हृदयंगम कर लेने पर यह लीला केवल ब्रह्मात्मा-लीला के व्याज के रूप में ही प्रतीत होती है और इसमें किसी भी प्रकार का विकार या कल्मष नहीं दिखलायी पड़ सकता। ऐसे ही स्थलों के सम्बंध में ऐसी लोक-धारणाओं को देखते हुये कतिपय रसिक भक्तों ने यह कहा है कि भगवत्-चरित में कहीं भी कोई विषमता नहीं, विषमता तो केवल पात्रान्तर से ही होती है। श्री हरि-चरित्र तो स्वाति-जल सा शुद्ध है, वह भिन्न भिन्न पात्रों को प्राप्त होकर भिन्न भिन्न रूप से प्रकट होता है।

"भगवत-चरित नितान्त विमल रस, स्वाति-बुन्द-जल जैसे।"
भगवत रसिक विषमता नहीं, पात्र-भेद-गुन जैसे।"

× × ×

विचार-पूर्वक इस प्रकार देखने और दिखाने पर कुछ जलौका-प्रवृत्तिवाले दुराग्रही पंडित-मानी अनधिकारी आलोचक यह कहा करते हैं कि यह व्याख्या अथवा विवेचना वस्तुतः यथार्थ और स्वाभाविक नहीं, वरन् बलात् इस प्रसंग पर अध्यात्मवाद का यह आरोप किया जा रहा है। यह वस्तुतः कवियों की दूषित मनोवृत्ति का काव्यात्मक अभिव्यंजन ही है, किन्तु उन महानुभावों को यह स्मरण रखना चाहिये कि वास्तव में ब्रजभाषा के सत्कवियों की कृष्ण-काव्य-परम्परा मूलतः व्यंजना-पद्धति पर ही समाधारित रही है और प्रतीकवाद को लेकर ही वह सफलता-पूर्वक चारुता से चलायी गई है। साथ ही सांकेतिक गूढ़ भाव-व्यंजक पदों अथवा शब्दों के द्वारा कृष्ण-चरित्र के

अंकित करने में आध्यात्मिक रहस्य का सुन्दर समावेश ललित लौकिक शृंगार में किया गया है।

ऐसे कृष्ण-काव्य की सारी शब्दावली निश्चित व्यंजनाओं से ही सम्बन्ध रखती है, जिसके जान मान लेने पर सारा रहस्य हस्तामलक सा होकर सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। बहुधा यह भी कहा जाता है कि इस प्रकार इस चरित्र को आध्यात्मिक रूप में प्रकट करना पांडित्य-प्रदर्शन करना भले ही हो, स्वाभाविक नहीं। इसके उत्तर में यही कहना उपयुक्त है कि ऐसा तभी ठीक हो सकता है जब यह केवल एक स्थान, एक प्रसंग, एक काव्य और एक अंश के सम्बन्ध में हो, किन्तु जब ऐसा अध्यात्मवादारोप समस्त रचना, सारे प्रसंग, पूर्ण काव्य और सर्वांश पर हो, तथा पूर्ण रूप से संगत या चरितार्थ हो तब यह आक्षेप कोई विशेष मूल्य नहीं रखता। सारा कृष्ण-काव्य आध्यात्मिक रहस्य पर सब प्रकार सांगोपांग समाधारित है। हाँ आवश्यकता है, उक्त व्यंजना-पद्धति तथा विशेषार्थ-व्यंजक शब्दावली से पूर्ण परिचय प्राप्त करने की। खेद है कि आधुनिक काल में काव्य के अध्ययनाध्यापन में रूपान्तर हो जाने तथा पाश्चात्य प्रभाव के बढ़ जाने के कारण ब्रजभाषा की यह शब्दावली अपनी विशेषार्थ-व्यंजना के साथ बहुत-कुछ हिन्दी-क्षेत्र से दूर होकर दुर्बोध और दुर्गम हो गयी है।

अब यहाँ आगे सूर के कृष्ण-काव्य में शृंगार-वर्णन की सूक्ष्म समीक्षा करनी है। शृंगार के मुख्य दो रूप हैं, प्रथम तो है—*वहिरंग* और दूसरा है—*अंतरंग*। वहिरंग शृंगार के भी दो मुख्य प्रकार यों हैं:—*प्रकृति सम्बन्धी*—जिसमें प्राकृतिक दृश्यादि की रमणीयता का रूप चित्रित किया जाता है। नैसर्गिक पदार्थों की रुचिरता का चित्रांकन किया जाता है और दूसर है:—नायकादि की शारीरिक सुन्द-

रता अथवा छवि-छटा का वर्णन, जिसमें शरीर के सर्वांगीण तथा अंग-प्रत्यंग-सम्बन्धी चित्रण हैं जो *एकांगी* कहा जा सकता है। एक एक अंग-प्रत्यंग की शोभा-श्री का कथन करते हुए सर्वांग पूर्ण देह का छवि- छटा का चित्र खींचा जाता है। इस अंग-प्रत्यंग-वर्णन के भी दो मुख्य प्रकार हैं:-प्रथम है:-*शिख-नख-वर्णन*-जिसमें सिर और केश-कलाप से चलकर पैरों और नखों तक आकर शोभा-श्री का चित्रांकन किया जाता है। यह शिख-नख-वर्णन देव-देवोपम नायक के सौन्दर्य-चित्रण में ही किया जाता है। ईश्वरावतारों-जैसे राम और कृष्ण, तथा देवियों—जैसे-सीता और राधा के सौन्दर्य-चित्रणों में विशेषतया इसी शैली का प्राधान्य प्राप्त होता है।

द्वितीय प्रकार है—*नख-शिख वर्णन*—यह साधारण सांसारिक नायक-नायिकादि के रूप-चित्रण में प्रयुक्त होता है। यह उक्त शिख-नख-वर्णन का विलोम रूप है। दोनों प्रकार के वर्णनों के भी अन्य कितने ही उपरूप भी हैं—यथा-*मुख्यांग-चित्रण*—जिसमें प्रसंगानुकूल केवल उपयुक्त अंगादि का ही वर्णन किया जाता है—यह समय-परिस्थिति आदि के विचार से न्यूनाधिक रूप में चलता है।

२-*सीमितांग चित्रण*-जिसमें प्रसंगानुकूल शरीर के किसी विशेष भाग या अंग तक के मुख्योपांगों की सौन्दर्य-श्री का कथन किया जाता है। ३ *अनुलोभानुलोम-वर्णन*-जिसमें मुख से चलकर कटि तक आकर फिर ऊपर चलते और मुख-श्री-शालिमा पर रम-विरम जाते हैं। इन सब प्रकार के वर्णनों में अंगोपांगो के स्वाभाविक सौन्दर्य-श्री-वर्णन के साथ ही तद्वर्धक विशेष वस्त्राभूषणांगरागादि का भी वर्णन करते हैं। साथ ही शरीर-शोभाकर अन्य *सौन्दर्य-कला*-विनिश्चित विधानों तथा साधनों आदि का भी कथन किया जाता है—जैसे मेंहदी महावर, कज्जल, गोदनादि का वर्णन ।

अंतरंग-सौन्दर्य के अन्तर्गत भाव-भावनागत मृदुलता, मंजुता और मधुरिमा-गरिमादि का चित्रण या अभिव्यंजन किया जाता है। इसका सीधा सम्बन्ध रस-सिद्धान्त से है—इसी के अंतर्गत-भावना-मयी दृग्दृष्टि-गति आदि भी आती हैं।

रस-सिद्धान्तानुसार यह सब प्रकार या भेद वस्तुतः एक विशेष दृश्य की पूर्ति-स्फूर्ति के लिये ही रक्खे गये हैं। संस्कार-रूप में रस आत्म-गत ही रहता है--क्योंकि रस ही ब्रह्म है—"रसो वै स":—यही परमात्म-स्वरूप है—अतएव रस आत्मा का भी मूल-रूप है और उसमें नित्य होकर रहता है। यह रस आत्मा के सूक्ष्म-स्थूल-शरीर-गत होने से मायावरण से समावृत होकर सुव्यक्त रूप में नहीं रहता—अतएव आवश्यकता होती है इस आवरण को हटाकर उस रस-संस्कार को उत्तेजित या उद्दीप्त करने की। इसे उद्दीप्ति प्राप्त होती है बाहर के संसार-गत दृश्य-पदार्थादि से—जैसे चंद्रिका, सुन्दर सुखद समीर, विहग वृंद-कलरव, उद्यानोपवन, वनादि से। इसी प्रकार रसोद्दीप्ति होती है किसी भी प्रकार के ऐन्द्रिकानुभव से, चाहे वह चाक्षुषानुभव हो, चाहे अन्य कोई ऐन्द्रिकानुभूति हो। नायक-नायकादि के रूपाकार और अंग-प्रत्यंगादि के कारण भी इसकी उद्दीप्ति होती है। इसलिये अंग-प्रत्यंग-वर्णन भी उद्दीपन-विभाव के रूप में रक्खा जाता है। इसलिये शरीर-सौन्दर्य-वर्णन अर्थात् अंग-प्रत्यंगादि-चित्रण। यों तो रस का एक प्रकार से उद्दीपन विभाव है, किन्तु अपना स्वतंत्र महत्व भी रखता है।

गोपिकायें श्रीकृष्ण की रम्य रूप-माधुरी पर विमुग्ध होकर उस पर अपने को निपट निछावर करने के लिये उद्यत् हैं। श्री हरि-रूप-वर्णन में आभूषण आदि का वर्णन भी किया गया है और स्वाभाविक सौन्दर्य को और अधिक सुन्दर और समाकर्षक

बनाने के लिये सौन्दर्य कला के द्वारा पूरा प्रयत्न किया गया है। ऐसा ही कृष्ण के बाल-रूप-चित्रण में भी किया गया है। यह बात अवश्मेय ठीक है कि श्री हरि के बाल-रूप से आभूषण, इस समय उनके सौम्य शरीर पर नहीं रक्खे गये। यदि बाल-रूप में "कठुला, कंठ, वज्र, केहरि-नख रजत रुचिर हियैं" आदि का वर्णन किया गया है, तो नायक कृष्ण के "मोर-मुकुट, मकराकृत कुण्डल, सोहति उर बन-माल" आदि का वर्णन मिलता है। भगवान के इसी रूप-सौन्दर्य के कारण गोपिकाओं में रति या सुप्रीति की भावना जाग्रत होती है और शनैः शनैः वही दृढ़ीभूत हो जाती है।

कृष्ण भगवान के मुरलिका-वादन से मुरली ही वस्तुतः उनकी महा मोहनी-शक्ति है और गोपिकाओं को हरि की ओर बलात् आकर्षित कर खींच लाती तथा उनमें सर्वथा समानुरक्त रखती है। गोपिकायें समाकृष्ट होकर कृष्ण के समीप आने में अपने को पूर्णतया बाध्य पाती हैं। वे कृष्ण से कहती भी हैं कि हम मुरली से प्रेरित होकर अपना सब कुछ छोड़ कर यहाँ खिंची चली आई हैं और अपने सर्वस्व का तुम्हारे लिये उत्सर्ग कर चुकी हैं। इसी प्रसंग में आगे रास-लीला में ही राधिका का समावेश होता है और राधा-कृष्ण का पूर्वानुराग सुविकसित होकर पूर्ण रति के रूप में आ जाता है और इस प्रकार सारा प्रसंग संयोग-शृंगार का उत्कृष्ट रूप उपस्थित करता है। प्रेम सम्बन्धी प्रायः सभी प्रमुख और मधुर भावनायें सूर ने बड़े श्लाध्य काव्य-कौशल से इस प्रसंग से रक्खी हैं। सूर-काव्य में मुख्यतया प्रथम वात्सल्य, फिर शृंगार जो रस-राज है और अपने संयोग और वियोग नायक दोनों रूपों में है, फिर भक्ति और शान्त रस आते हैं। इन सब में से शृंगार रस ही अति पवित्र और सुन्दर है।

इस प्रकार संयोग-पक्ष के पश्चात् वियोग-शृंगार का प्रसंग आता है। यों तो प्रथम भी वियोग का थोड़ा सा आभास दिया गया है

किन्तु वास्तव में श्री कृष्ण के मथुरा चले जाने पर ही वियोग का पूर्ण रूप उपस्थित होता है। प्राथमिक वियोग तो प्रणय-प्रवर्धनार्थ ही था और व्याज मात्र ही था। यह वियोग-चार पृथक रूपों में दिखलाया गया है और वह व्यक्तियों के भाव-भेद से। एक रूप तो वात्सल्य-भाव-प्रभावित वियोग है, जो नन्द और यशोदा को कृष्ण के पृथक हो जाने से दुखी करता है। दूसरा रूप वह है जो दाम्पत्य भाव से प्रभावित है, यह वियोग राधिका को ही विशेष विकल करता है। गोपिकाओं को वियोग की जो अनुभूति होती है, उसे दाम्पत्य और माधुर्य्य दोनों भावों से प्रभावित दिखलाया गया है, यह वियोग का तीसरा स्वरूप है। चौथा रूप वह है जो ब्रज-वासियों को कृष्ण के पृथक होने से विह्वल करता है। इस रूप को सूर ने वैसे अधिक विस्तार के साथ चारु चटकीले रंगों से चित्रित नहीं किया। इन सब रूपों के चारु चित्रण करने में सूरदास ने समक्ति रति अथवा प्रीति के भाव के साथ वियोग की लगभग सभी प्रमुख अवस्थायें बड़ी मार्मिकता के साथ चित्रित की हैं। यह वियोग वास्तव में गोपिकाओं के कृष्ण-प्रेम को तीव्रतर करने में पूर्ण सहायक होता है। इसी से कृष्ण के प्रति उनका पुनीत प्रेम इतना अधिक सुदृढ़ हो जाता है कि कृष्ण-प्रेषित उद्धव के ज्ञानोपदेश का उन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता वरन् उस उपदेश से वह और भी अधिक उद्दीप्त, पुष्ट और प्रवल-प्रखर हो जाता है। इसी से ज्ञानी उद्धव भी प्रभावित हो जाते हैं, और उनमें भी प्रेमाभक्ति और कृष्णानुरक्ति की जागृत और उद्दीप्ति हो जाती है।

इसी प्रसंग में कुब्जा और कृष्ण के प्रेम का भी उल्लेख किया जाता है। यद्यपि उसका कोई भी विशेष स्पष्ट चारु चित्रण सूर या किसी भी अन्य काव्यकार ने तो नहीं किया, किन्तु व्यंजित उसे अवश्मेव सबने किया है। गोपिकायें स्पष्ट रूप में कहती हैं कि कृष्ण कुब्जा में अनुरक्त हैं और इसीलिये हमें वह भूल रहे हैं। इससे कुब्जा

और कृष्ण के प्रेम-नेम की व्यंजना मिलती है। इसी प्रसंग में प्रायः कुब्जा के प्रति गोपिकाओं का सपत्नीक भाव सा भी व्यंजित किया गया है और प्रेमोपालम्भ के रूप में कुब्जा और कृष्ण के लिये अनेक फबते हुए व्यंग्य-वाक्य तथा उपालम्भ-सूचक कटु बचन भी कहलाये गये हैं।

वास्तव में सूर की रम्य रचना का यह भाग सारे हिन्दी-साहित्य में अप्रतिम और सर्वथा सफलोत्कृष्ट हुआ है। अन्य कवियों ने भी इसी को आधार बना कर रुचिर रचनायें की हैं। यद्यपि इस प्रसंग का बहुत सा भाग न्यूनाधिक रूप से भागवत पर ही समाधारित है फिर भी स्थान स्थान पर सूर की सुन्दर मौलिक उद्भावनायें भी रम्य और श्लाध्य हैं। यह सारा प्रसंग बहुत ही मार्मिक और हृदय-स्पर्शी है। इसमें कहीं कहीं कारुणिक भावों का भी बड़े ही हृदय-द्रावक रूप में सुन्दर समावेश किया गया है। स्मृति-भ्रान्ति जैसे संचारी भावों का यथा-स्थान सुन्दर सराहनीय समावेश किया गया है।

इसी प्रसंग के अन्तर्गत "भ्रमर-गीत" की भी अप्रतिम प्रख्यात प्रबन्ध रचना मिलती है। वास्तव में यह प्रसंग साम्प्रदायिक दृष्टि कोण से प्रेमाभक्ति को विशेष महत्व देने के लिये रक्खा गया है और शुद्धाद्वैत नामक दार्शनिक सिद्धान्त को व्यंजित करते हुये, इसमें वल्लभीय भक्ति और प्रेमोपासना की प्रधानता प्रगट की गयी है। इसी प्रसंग में स्मृति के कारण गोपिकाओं की प्रेमोद्दीप्ति की विविध मानसिक दशायें बड़ी सुन्दरता से चित्रित की गयी हैं। साथ की सहसा उड़ कर वहाँ आये हुये एक भ्रमर को लेकर अन्योक्ति-व्यंजना-पद्धति के द्वारा गोपिकाओं के मुख से कितनी ही फबीली फबतियाँ भी कृष्ण और उद्धव दोनों पर आरोपित की गयी हैं। कहीं कहीं कटूक्तियाँ भी कही गयी हैं। यह प्रसंग साधारण होता हुआ भी इसीलिये गूढ़ और गहन हो गया है। इस प्रसंग में एक ओर तो अद्वैतवाद-सम्बन्धी ब्रह्म-ज्ञान और

योग के अन्तर्गत शान्त रस का आभास मिलता है और दूसरी ओर गोपिकाओं के भक्ति-भाव और प्रेम में शृंगार रस दृष्टि-गोचर होता है और कहीं कहीं किंचित करुण-भाव सा भी आभास-रूप में प्रगट होता है।

इस प्रकार विहंगम-दृष्टि से देख चुकने पर निष्कर्ष रूप में कहना चाहिये कि यह विप्रलम्भ शृंगार का सारा प्रशस्त प्रसंग सूर-काव्य का शृंगार-सार है। इसी में कहीं कहीं प्रकृति का मनोवैज्ञानिक उल्लेख भी किया गया है। जैसे—"मधुवन तुम कित रहत हरे"। इसी प्रकार—"लखियत कालिन्दी अति कारी"। कहीं कहीं कृष्ण के विषम वियोग-व्यथा से ग्रथिता-व्यथिता गोपिकाओं पर प्रकृति और प्रकृति की दशाओं का आरोप अलंकार-पद्धति के आधार पर बड़ी चातुरी और चारुता से किया गया है। जैसे–"निसि-दिन बरसत नैन हमारे", "माई री नैनन ते घन हारे"–ऐसे प्रशस्त पदों में प्रकृति की वस्तुओं और दशाओं का आरोप गोपिकाओं के अंगोंपांगो और उनकी दशाओं पर किया गया है, और बड़ी विशेषता के साथ।

इस प्रकार प्रकृति का मनोवैज्ञानिक चारु चमत्कृत चित्रण ही विशेष रूप में यहाँ किया गया है, जहाँ कहीं भी इसका अवसर मिला है। यह भी स्मरणीय है कि गोपिकाओं पर प्रकृति अपना उद्दीपन के रूप में कोई विशेष प्रभाव नहीं डालती, क्योंकि वे श्री कृष्ण के ध्यान में इतनी निमग्न रहती हैं कि उन्हें प्रकृति के देखने, समझने और उसकी दशाओं आदि से प्रभावित होने के लिये न तो चेतना ही रहती है और न उन्हें एतदर्थ कहीं अवकाश ही मिलता है, और न वे अपने को प्रकृति के निकट ले जाने में ही समर्थ होती हैं। हाँ कालिन्दी के तट पर गोपिकायें इसीलिये जाती हैं कि उसका कुछ घनिष्ट सम्बन्ध उनके प्रियवर श्री कृष्ण से है। कृष्ण ने वहाँ ललित लीलायें की थीं। इसी प्रकार मधुवन में भी वे कभी कभी चली जाती हैं, चूँकि वह भी श्री कृष्ण का ललाम

लीला-धाम है और उन्हें वह सुस्मृति देता है, जिससे उन्हें सुख मिलता है, किन्तु इन दोनों स्थानों के अन्य प्राकृतिक पदार्थों की ओर उनका कोई भी विशेष ध्यान नहीं और न वे उनसे प्रभावित ही होती हैं। उनका ध्यान तो बस कृष्ण और कृष्ण से सम्बन्धित वस्तुओं की ही ओर जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूर ने प्रकृति को गौण रूप में केवल भावना-प्राधान्य-प्रावल्य के प्रगट करने के लिये ही रक्खा है। प्रकृति न तो सर्वथा उद्दीपन रूप में ही यहाँ है और न आलम्बन-रूप में ही।

सूर-काव्य का द्वितीय प्रमुख भाग दृष्टिकूट-सम्बन्धी पदों का है, यद्यपि दृष्टकूट, जैसा कहा जा चुका है, विशेषतया सम्बन्ध रखता है कल्पना-कतूहल और कवि-कला-कौतुक से ही।' उसमें वचन-वैचित्र्य और कथन-वक्रता की ही प्रचुरता और प्रधानता रहती है, फिर भी सूरदास ने अपने कूट-काव्य को नितान्त नीरस और केवल कला-कौतुक-प्रधान ही नहीं रक्खा, वरन् उससे भी रसों को व्यंजित कर उसे रुचि-रंजक किया है। हाँ रसों में से प्रधानता श्रृंगार और शान्त को ही दी है। यही सूर का बहुत बड़ा सराहनीय कौशल है कि कूट-काव्य के मुख्य लक्षण अथवा गुण को पूर्णतया चरितार्थ करते हुये भी उसे सरस-सुखद बनाने का उन्होंने सराहनीय प्रयत्न किया है।

निश्कर्ष रूप में कहना चाहिये कि सूर के काव्य में श्रृंगार रस और उसके दोनों पक्षों का अद्वितीय चारु चित्रण किया गया है। सूर इस दृष्टि से श्रृंगार रस के एक मात्र सिद्ध-हस्त लेखक और कला-कुशल कवि हैं। यह स्मरणीय है कि उनका श्रृंगार लौकिक होता हुआ भी अलौकिक रसानंद का पूरा प्रभाव रखता है। उनके काव्य में कतिपय स्थल ऐसे भी प्राप्त होते हैं, जिन्हें साधारणतया उत्तान श्रृंगार-मय कहा जाता है, किन्तु जैसा हम पहले संकेत-रूप में कह चुके हैं, इन स्थलों को विचार-पूर्वक देखने से यह भ्रम दूर हो सकता है।

सूर और मुरली

कृष्ण-काव्य में मुरली का एक विशेष महत्व और स्थान है—सूरदास से लेकर प्रायः सभी प्रमुख कृष्ण-काव्यकारों ने मुरली का किसी न किसी रूप में अवश्यमेव वर्णन किया है। सूर ने भगवान कृष्ण की इस मंजु मुरली को उनकी मोहिनी माया-शक्ति के रूप में दिखलाया है। यह मंजु मुरली जिस समय बजती है उस समय उसकी मधुर-मंजुल ध्वनि को सुनकर संसार के समस्त चराचर, स्थावर-जंगम, जड़-चेतन नितांत मन्त्र-मुग्ध से रह जाते हैं। सभी चलाचल अचल हो जाते हैं। यमुना का पय-प्रवाह स्थिर हो जाता है और पवन का भी गमन रुक जाता तथा शान्त हो जाता है। हाँ सबसे अधिक प्रभाव इसका ब्रज-गोपिकाओं पर ही पड़ता है।

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी जदपि नँदनंदहिं नाना भाँति नचावति।
राखति एक पाँय ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति।
कोमल अंग, आपु आज्ञा-गुरु, कटि टेढ़ी ह्वै जावति।
अति आधीन सुजान कनौड़े गिर-धर-नार नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर-सज्जा पर, कर-पल्लव सन पद पलुटावति।
भृकुटी कुटिल, करषि नासा-पुट, हम पर कोप कोपावति।
"सूर" प्रसन्न जानि एकौ दिन अधर सुसीस डोलावति।

× × ×

सूर ने लिखे हैं :—"मुरली अधर सजी बलबीर"-"नाद सुनि वनिता बिमोही"—इत्यादि कितने ही पद हैं। ब्रज-गोपिकायें इस मुरली

के विषय में अपने विचार भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट करती हैं। पहले तो वे मुरली के नाद से बहुत प्रसन्न रहती हैं और उसके प्रति अति अनुराग प्रकट करती हैं, किन्तु फिर उनमें मुरली के लिये तनिक ईर्ष्या और द्वेष के भी भाव उत्पन्न हो जाते हैं। कभी कभी उनमें सपत्नीक भाव भी प्रकट होकर गोपिकाओं के चित्तों को चिन्तित कर देता है।

जब हरि मुरली-नाद प्रकास्यो।
जंगम, जड़, थावर, चर कीन्हे, पाहन जलज बिकास्यो।
स्वर्ग, पताल दसौ दिसि पूरन ध्वनि अच्छादित कीन्हो।
निसि पर-कल्प समान बढ़ाई, गोपिन को सुख दीन्हो।
रसमय भये जीव जल-थल के, तन की सुधि न सँभार।
'सूर' स्याम मुख बैन मधुर सुनि उलटे सब व्यवहार।

× × ×

मुरली सुनत अचल चले।
थके चर, जल झरत पाहन, विफल रूखहु फले।
पय स्रवत गोधननि-थन ते प्रेम पुलकित गात।
झुरे द्रुम अंकुरित पल्लव, बिटप चंचल पात।
सुनत खग-मृग मौन साध्यो चित्र की अनुहारि।
धरनि उमँगि, न मति मतिधर मैं जती जोग बिसारि।
ग्वाल घर घर सहज सोवत उन्हें सहज सुभाइ।
'सूर' प्रभु रस - रास के दिन सुखद रैनि बढ़ाइ।

× × ×

मुरली गति बिपरीत कराई।
तिहूँ भुवन भरि नाद समान्यो राधा-रमन बजाई।
बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरत नहीं तिन धेनु।
जमुना उलटी धार चली बहि पवन थकित सुनि बेनु।

बिह्वल भये नहीं सुधि काहू, सुर-गंध्रब-नर-नारि।
"सूरदास" सब चकित जहाँ तहँ ब्रज जुवतिन सुखकारि।

× × ×

वे निज गोपालोपासना में मुरली को वाधक जान उसकी विगर्हणा भी करती हैं, और उसे इसलिये दोषी ठहराती हैं कि उसके ही कारण उनके परम प्रिय कृष्ण को कष्ट होता है। वे मुरली को एक प्रकार से कृष्ण की प्रिय नायिका सी भी मानती हैं और कहती हैं कि कृष्ण ऐसे इसके वश में हैं कि कष्ट उठाकर भी इसे नहीं छोड़ते।

"मुरली तऊ गोपालहिं भावति"
एक पाँय राखति ठाढ़ो करि बहु विधि नाच नचावति।

इसी प्रकार मुरली को भगवान श्री कृष्ण के मृदु-मधुर-मंजुलाधरों पर रहकर उनके अधर-सुधा-रस को पान करता हुआ देख उन्हें ईर्षा होती है और वे सशंकित होकर अपनी वस्तु पर मुरली का यों अधिकार होते देख उस पर प्रथम प्रकुपित सी होती हैं, किन्तु फिर कहती हैं कि इसमें कृष्ण का ही वस्तुतः दोष है, मुरली का नहीं—'अधर-रस मुरली भरन लगी' मुरली अति गर्व काहू को न भजति आज,—आदि।

कभी मुरली को वे बहुत अभिमानिनी के रूप में भी देखती हैं। उसे अखर्व गर्व इस बात का है कि श्री कृष्ण को उसने सर्वथा अपने वश में कर रक्खा है—"मुरली मोहे कुँवर कन्हाई।"

फिर वे कहती हैं कि इस मंजु मुरली ने तो विचित्र कार्य किया है और सारे संसार को ही विमोहित कर रक्खा है। "स्याम तुम्हारी मदन-मुरलिका जग मोह्यो।" न केवल संसार ही वरन् सुर-नर-नारि-पशु-पक्षी-लता-द्रुमाद्रि-नद-नदी सर-सिंधु भी इससे विमोहित हो गये हैं—"सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई"। फिर गोपिकायें कहती हैं कि हमतो, सभक्ति सेवा करना और वह टोना करना जानती हैं, तभी तो उसे ऐसी

सफलता मिली है। "आवति ही याके यह ढंग-मन-मोहन बस भये तुरत ही ह्वै गये अंग तिभंग। मैं जानति यह टोना जानति"...

इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि इस मुरली ने प्रकृति की रीति या गति को भी विपरीत कर दिया है और वह अब अपना कार्य यथापूर्व यथानियम नहीं करती। "मुरली गति विपरीत कराई"।

गोपिकायें मुरली के अनुपम नाद को सुनकर अपने वश में नहीं रह पातीं। उन्हें अपने तन-मन की सारी सुधि भूल जाती है। वे इसे सुनकर अपने घर में नहीं रह सकतीं।

जब ते बंसी स्त्रौन परी।
तब ही तैं मन और भयो सखि मो तन सुधि बिसरी।
हौं अपने अभिमान रूप-जोवन के गरब-भरी ॥
नेकु न कह्यौ कियो सुनि सजनी बादिहिं आपु ढरी।
बिन देखे अब स्याम मनोहर जुग भरि जाति धरी ॥

× × ×

मुरली-धुनि स्त्रवन सुने रह्यौ नाहिं परै।
ऐसी को चतुर नारि धीरज मन धरै॥
खग-मृग-तरु सुर-नर-मुनि-सिव समाधि टरै।
अपनी गति तजै पौन, सरितौ न ठरै॥
मोहन के मन को को अपने बस करै।
'सूरदास' सप्त सिंधु-सुख सुधा भरै॥

× × × ×

जब मोहन मुरली अधर धरी।
गृह व्यवहार थके, आरज पथ तजत न संक करी।

पद-रिपु पट अटक्यो आतुर ज्यों उलटि-पलटि उपरी ॥
सिव-सुत-बाहन आप पुकारो मन-चित-बुद्धि हरी।
दुरि गये कीर, कपोत, मधुप, पिक, सारँग सुधि बिसरी।
उड़पति, विद्रुम, बिम्ब खिसान्यो, दामिन अधिक डरी ॥
निखरे स्याम पतंग सुतरु-तट आनँद उमँग भरी।
"सूरदास" प्रभु प्रीति परस्पर प्रेम-प्रवाह परी ॥

× × × ×

गोपिकाओं को जब इस मुरली की यह अनीति अति दुखी करती है तब वे मुरली से कृष्ण को पृथक करने के लिये उपाय सोचती हैं, क्योंक वे बिचारती हैं कि जब तक मुरली कृष्ण से पृथक नहीं होगी तब तक श्री कृष्ण गोपिकाओं की ओर आकृष्ट कदापि न होंगे। इसलिये गोपिकायें कहती हैं—"सखीरी मुरली लीजै चोरि"—इसके उत्तर में कुछ गोपियाँ यह भी कहती हैं कि है तो यह ठीक, परन्तु मुरली का चुरानासम्भव कैसे हो सकता है, जब कृष्ण उसे अपने से किसी भी प्रकार कभी पृथक रखते ही नहीं। किन्तु इस पर दूसरी सखियाँ इस विचार को ठीक नहीं समझती और कहती हैं कि मुरली ने बहुत बड़ी तपस्या की है। पहले उसने अपने शरीर को सुखा दिया, अपना वंश छोड़ा, फिर अपने शरीर को कटवाया और गर्म लोहे से उसमें छेद करवा डाले, तब कहीं उसे यह दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह भी समझ लो, व्यर्थ कुत्सित विचार क्यों मन में लाती हो। इस प्रकार सूर ने मुरली पर बहुत-कुछ लिखा है।

सूर के भावों की छाया लेकर कितने ही और कवियों ने भी मुरली पर बड़ी सुन्दर और सरस उक्तियाँ दी हैं, जिनकी सराहना करते ही बनती है। किसी ने इसे गोपिकाओं के मुख से वैरिनी भी कहलाया है तो किसी ने इसे गोपिकाओं से शाप तक दिलाया है—

जोग-जप जी है विरहागि उपजी है अब,
"जी है कौन बैरिनि बजी है बन बाँसुरी"—देव

× × × ×

बंस की ह्वै कै छुड़ावति बंसहिं, तीर सी ह्वै हनै तीर सी तानैं।
बेधी गई तऊ बेध की बेदना जानै नहीं उर बेधिबो ठानैं॥
सूखि गई हरियारी तऊ, रहै ह्वै कै हरी पै सुखावति प्रानैं।
"पीवै सदा अधरामृत पै बरै बाँसुरिया बिष बोइबौ जानै"॥

× × ×

इसी प्रकार मुरली के बजने पर गोपिकाओं की कैसी विभिन्न दशायें होती हैं, इसे भी कितने ही कुशल कवियों ने कितने ही रुचिर रूपों में व्यक्त किया है।

श्री मद् भागवत में मुरली के स्थान पर वेणु शब्द का भी प्रयोग किया गया है और मुरली-वादन के स्थान पर वेणु-वादन की चर्चा की गयी है। विद्वान टीकाकारों ने वेणु शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है, वा अर्थात् ब्रह्म, जिसके समक्ष इ अर्थात् इह संसार अणु अथवा परिमाणु के रूप में है। तात्पर्य इसका यह है कि वेणु ब्रह्म का प्रतीक है और यही शब्द या नाद वस्तुतः ब्रह्म है। इसीलिये समस्त विश्व उसमें लय हो जाता है। सूर ने भी नाद-ब्रह्म के भाव को मुरली-नाद में सुन्दरता से व्यंजित किया है और विश्व की लयता उसमें दिखलायी है। मुरली का सम्पर्क कृष्ण से, जब तक वे प्रेमी नायक के रूप में रहते हैं, तभी तक ही रहता है। वस्तुतः रास-लीला तक ही इसका विशेष वर्णन हुआ है, इसके पश्चात् फिर कृष्ण के साथ मुरली का उल्लेख प्रायः नहीं किया गया है।

मुरली के सम्बन्ध में हठयोग के आधार पर ऐसा विचार भी किया गया है कि मुरली का नाद योगी को योगावस्था में अनाहत नाद के समान या रूप में सुनायी पड़ता है और वह इतना विमोहक होता है कि आत्मा अपने को उसी नाद के मधुरास्वाद में सर्वथा मग्न-निमग्न कर देता है और उसी में अपने को नितांत लीन-विलीन भी किये रहता है। इस नाद से प्राप्त होनेवाला अलौकिकाप्रतिम आनन्द ही ब्रह्मानन्द सा ही है। सूर की रचना में यद्यपि इस प्रकार का भाव सर्वथा स्पष्ट रूप में नहीं है तथापि यह शब्दावली से कुछ ध्वनित होता हुआ अवश्मेव आभासित होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि सूर मुरली में वह दिव्य भागवत शक्ति मानते हैं, जिसमें विलक्षण विश्वेतर श्रुति-माधुरी, स्वर सुकुमारता, सरसता और अनुपम मायामयी मंजु मोहनी है। सूर की रचना में मुरली का यह वर्णन हिन्दी-साहत्य में सर्वथा अप्रतिम स्तुत्य अतीवानंद-दायक तथा सर्वथा सराहने और चाहने के लायक है।

सूर और अध्यात्मवाद

यह प्रथम ही कहा जा चुका है कि सूरदास शुद्धाद्वैत मत के प्रवर्तक और प्रचारक महात्मा श्री वल्लभाचार्य के प्रमुख शिष्यों में से थे और इसलिये उनकी दार्शनिक विचार-धारा बहुत-कुछ वही है जो स्वामी वल्लभाचार्य की थी। सूरदास ने अपनी ओर से एक दार्शनिक विचारक के रूप में कोई भी विशेष दार्शनिक सिद्धान्त नहीं उठाया। उनकी उपलब्ध जीवनी से यह भी ज्ञात होता है कि वे जन्मान्ध थे, यद्यपि यह नितान्त निश्चित नहीं क्योंकि यह भी कहा जाता है कि इन्होंने कुछ समय के पश्चात् अपनी आँखें फोड़ ली थीं। जन्मान्ध होकर उन्होंने अपनी ओर से ग्रन्थावलोकन के द्वारा सम्भवतः कोई विशेष ज्ञान न प्राप्त किया था, वरन् जो कुछ उनमें ज्ञान था वह केवल श्रुत ज्ञान ही था, किन्तु वल्लभाचार्य की चरण-शरण में रह कर प्रत्येक समय पंडितों, विद्वानों और भगवद्भक्तों का सत्सङ्ग प्राप्त करते हुये उन्होंने बहुत-कुछ ज्ञानार्जन कर लिया था। विशेषतया भागवत का तो उन्हें अच्छा ज्ञान हो गया था। यह बात इस प्रकार और भी परिपुष्ट प्रतीत होती है, चूँकि उन्होंने भागवत के ही आधार पर अपनी समस्त रचना की है।

जितने भी भक्ति और ज्ञान-सम्बन्धी विचार उनकी रचना में मिलते हैं वे सब उन्हें श्री स्वामी वल्लभाचार्य के ही प्रसाद-स्वरूप प्राप्त हुये थे। उपासना-मार्ग तो उनका सर्वथा पुष्टि-मार्गीय था ही। शुद्धाद्वैत में केवल एक ब्रह्म की ही सत्ता को स्वीकार करते हुये भी उसे अवतार ग्रहण करता हुआ और निर्विकार निर्गुण होकर भी सगुण होता हुआ तथा निराकार होकर साकार होता हुआ भी माना गया है। तत्वतः

आत्मा और परमात्मा में अन्ततोगत्वा अभेद को ही स्वीकार करते हुये, भेद भी यदि माना गया है तो बाहर से ही माना गया है और उसे साकार रूप में लेकर उपास्य तथा सेव्य कहा गया है और कृष्ण के अवतार को ही उस ब्रह्म का पूर्ण अवतार बताया गया है। इसी के साथ ही प्रेमाभक्ति के द्वारा आत्मा को परमात्मा में सर्वथा लगाने के लिये उपदेश दिया गया है, किन्तु वहीं यह भी कहा गया है कि भक्ति बिना भगवदानुग्रह के प्राप्त नहीं होती और न हो ही सकती है। यही ईश्वरानुग्रह आत्मा के लिए पुष्टि है। इसी से आत्मा परिपुष्ट होकर भगवद् भक्ति के सर्वथा योग्य होती है। इसी लिए इस उपासना-मार्ग को पुष्टि-मार्ग कहा जाता है। यह स्मरणीय है कि यद्यपि इस उपासना में प्रेम और भक्ति को प्राधान्य तो दिया गया है अवश्य, किन्तु उसी के साथ ही साथ ज्ञान और योग को नितान्त छोड़ भी नहीं दिया गया। हाँ, इतना अवश्यमेव है कि ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति और प्रेम को कुछ विशेषता अवश्यमेव दी गयी है।

सूरदास की रचना में उक्त विचार-धारा ही प्रधानतया प्रवाहित मिलती है। निर्गुण-वाद का वे नितांत खण्डन नहीं करते, वरन् उसकी अपेक्षा सगुणवाद को ही ईश-ध्यान के लिये आधारभूत मानते हुए सरल और सुख-साध्य कहते हैं।

"रूप-रेख, गुन, जाति, जुगति बिन निरालंब मन चक्रित धावै।
सब बिधि अगम, अगोचर ताते, 'सूर' सगुन-लीला पद गावै।"

उपास्य भगवान में वे विशेषतया करुणा, कृपा अथवा अनुग्रह, भक्ति, वात्सल्य, क्षमा और समतादि गुणों के साथ ही साथ शक्ति, सत्य, शील और सौन्दर्य जैसे गुणों को भी मानते हैं। भगवदुपासना का प्रयोजन मोक्ष या जीवन्मुक्ति के रूप में नहीं है वरन् भगवान का सान्निध्य और सामीप्य प्राप्त करना ही है और उसके आनन्द-रस में

अपने को सर्वथा निमग्न कर देना ही है। ऐसा करने में संसार से तो विरक्ति और भगवान में पूर्णतया अनुरक्ति का होना ही सर्वथा समापेक्षित है।

सूरदास ने स्पष्ट रूप में कहीं जीव, प्रकृति और ब्रह्म के सम्बन्ध में इस प्रकार कथन नहीं किया, जिस प्रकार गो० तुलसीदास ने अपने मानस आदि ग्रंथों में किया है, किन्तु उनकी रचना को सध्यान देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे चिदाचिद् रूप ब्रह्म से प्रकृति अथवा माया और जीव अथवा आत्मा को प्रादुर्भूत होते हुए मानते हैं। प्रकृति ईश्वरानुवर्तिनी ही है, वास्तव में यह सब सांसारिक लीला उस ब्रह्म की ही उसी प्रकार ललित लीला है जिस प्रकार एक शिशु दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर लीला करता है। यह सिद्धान्त प्रतिबिम्ब-वाद का भाव-प्रभाव-व्यंजक है, और इसके आधार पर संसार में दो पदार्थों का अस्तित्व मान्य हो जाता है, एक तो है ईश्वर जो क्रीड़ा या लीला करता है और दूसरा है जड़ संसार, जो काँच के सदृश है और भगवान के प्रतिविम्ब से प्रतिविम्वत होता है। इन्हीं के साथ तीसरा अस्तित्व प्रतिविम्ब का भी है, वह मिथ्या होता हुआ भी सत्य ही सा है। इस प्रकार इसमें त्रक वाद की झलक सी मिलती है, किन्तु इसी के साथ यह भी कहा जाता है कि वस्तुतः तीनों फिर अंत में एक ही होते हैं। ईश्वर ही मुख्य है, वही अपने में अपने को प्रतिविम्वत देखकर लीलामय होता है। इस विचार को सूरदास ने मणि-मंडित नन्द-निकेतन में शिशु कृष्ण के क्रीड़ा-वर्णन में चारुता से प्रकट या व्यंजित किया है।

आगे चलकर समस्त सृष्टि को आरती के रूपक में रखकर सूर ने यह प्रकट किया है कि इस अखिल विश्व में, जो आरती के रूप में है, दो ज्योतियाँ ज्ञान और भावना की सूर्य और चन्द्र के रूप में प्रकाशित

हैं, और यह समस्त सृष्टि रूपी अनुपम आरती अखिलेश्वर की ही इच्छा से विरचित है, "प्रभु इच्छा रचनी"—इस पद से यह ध्वनित होता है कि यह समस्त संसार परम प्रभु की ही इच्छा का रम्य रूप है अर्थात् कल्पित है। यही बात वेद में भी—"यथा पूर्वमकल्पयत" के रूप में कही गयी है।

इसलिये कहना चाहिये कि सूरदास प्रकृति अथवा संसार की सत्ता और महत्ता को परमेश्वर की इच्छा ही पर सर्वथा समाधारित मानते हुये कल्पित ही सा मानते हैं।

गो० तुलसीदास जी के समान उन्होंने "ईश्वर-अंश जीव अवि-नाशी"—जैसी पक्तियाँ लिखकर जीव या आत्मा की कोई भी विशेष परि-भाषा तो नहीं दी, किन्तु उसका अस्तित्व उन्होंने अवश्यमेव ध्वनित कराया है। इसी प्रकार ब्रह्म अथवा ईश्वर की भी कोई विशेष परिभाषा उन्होंने नहीं लिखी, किन्तु उसकी भी महत्ता-सत्ता उसके साकार और निराकार नामक दोनों रूपों में स्वीकार की है। साथ ही उसे विराट् और विभु के रूप में भी दिखाया है। भगवान कृष्ण के मिट्टी खाने और उसे उगलाने के लिये मुख के खोलाने पर समस्त ब्रह्माण्ड को उसी मुख के अन्दर स्थित होता हुआ उन्होंने दिखलाया है।

लोक-रंजन, भव-भार-भंजन अखर्व गर्व-गंजन श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन करते हुये उन्होंने वैष्णव गुणों और विशेताओं का पूरा ध्यान रक्खा है। कृष्ण का अप्रतिम अवतार विष्णु का पूर्ण अव-तार ही सा माना गया है और कहा भी गया है कि "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"। विष्णु का मुख्य कार्य लोक-रक्षण, विश्व-रंजन और लोक-पालन है। इसके लिये विष्णु अपनी महा मोहनी आह्लादिनी शक्ति और सर्व-श्री शक्ति से कार्य करते हैं, यही शक्ति राधिका है। कृष्ण के अव-तार में ही भगवान कृष्ण ने अपने वैष्णव अस्त्रों का भी यथा-आवश्य-

कता उपयोग किया है, अर्थात् चक्र, शंख आदि का प्रयोग कृष्णावतार ही में कहा गया है, रामावतार में नहीं। रामावतार में तो लोक-मर्य्यादा और लोक-रंजनता की ही प्रधानता रही है, किन्तु कृष्णावतार में लोक-मर्य्यादा से आगे अलौकिक रूप में लोक-हित के भाव-प्रभाव को विशेष रूप से रक्खा गया है। रामावतार में भगवान ने अपने को कदापि कहीं सर्वथा सुप्रकट नहीं होने दिया, वे प्रायः सर्वत्र अव्यक्त ही से रहे हैं। किन्तु कृष्णावतार में वाल्यकाल से ही भगवान ने अपने अनूपानूप परम दिव्य रूप और अपनी परम दिव्य शक्ति का बराबर परिचय दिया है। कृष्णावतार में उनकी महा माया-मोहनी शक्ति विशेष रूप में कार्य करती है, किन्तु रामावतार में वह उस प्रकार कार्य नहीं करती। इसलिये सूर को अपनी रचना में श्रीकृष्ण के वास्तविक वैष्णव स्वरूप के समुपस्थित करने में सरलता हुई है।

भगवान कृष्ण की ललित लीला वास्तव में वैष्णव लीला के समान दुर्ललित और अद्भुत है। सूर ने ऐसी लीलाओं के प्रसंग में बड़ी सुन्दरता से यह व्यंजित या ध्वनित किया है कि यह वैष्णव लीला अति अद्भुत है। किन्तु कदाचित कहीं भी सूर ने तुलसी के समान यह नहीं कहा कि यह लीला बहुत गूढ़ है। इसी से इस गूढ़ लीला के साथ उनकी रुचिर रचना सरल होती हुई भी गूढ़ है। कृष्ण-चरित्र के लिये भी सूर ने गो० तुलसीदास के समान "रामचरित अति गूढ़" स्पष्टतया कहीं नहीं कहा।

दार्शनिक अध्यात्मवाद का सुविकसित स्वरूप सूरदास ने अपने भ्रमर-गीत में बड़ी चारु चातुरी से चित्रित किया है। एक प्रकार से इस भ्रमर-गीत में भक्ति-मार्ग और ज्ञान-मार्ग के सहज सुखद संतुलन का विचक्षण चारु चित्रण है। भागवत में भी यह इसी उद्देश्य से लगभग इसी रूप में रक्खा गया है। कुछ आलोचकों और साहित्य के इतिहासकारों ने कदाचित बहुत ही स्थूल रूप से विचार करते हुए सूर

और तुलसी को भक्ति-मार्गीय सगुण पंथानुयायी माना है, लेकिन दोनों की रचनाओं से यही स्पष्ट होता है कि दोनों ही महात्मा ईश्वर के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों के मानने वाले थे, और भक्ति के साथ ही ज्ञान की भी महत्ता और सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते थे। वास्तव में सूर और तुलसी दोनों को ज्ञानात्मक भक्ति-मार्गीय महात्मा कहना चाहिये, किन्तु आश्चर्य तो यह है कि इनकी सारी रचनाओं में ज्ञान-मार्गीय तत्वों के यथेष्ट रूप में होते हुये भी इन्हें ज्ञान-मार्गीय न कहकर भक्ति-मार्गीय ही कहा गया है और कबीर जैसे संतों को ज्ञान-मार्गीय बताया गया है, यद्यपि वे लोग वस्तुतः सर्वथा सुपठित सुयोग्य तत्वज्ञ और दार्शनिक सिद्धान्त-मर्मज्ञ न थे, वरन् उनकी रचनाओं से तो यही प्रकट होता है कि उनमें ज्ञान और भक्ति का केवल कुछ आभास मात्र ही सा था, इसीलिये हमने अपने इतिहास में कबीर को ज्ञानाभासात्मक शाखा में ही माना है।

गो० तुलसीदास ने तो स्पष्ट शब्दों में ज्ञान और भक्ति में अभेद ही माना है और दोनों को एक ही बतलाया है। वे लिखते हैं—"ज्ञानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव-संभव खेदा"—इसी प्रकार ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप के लिये भी उन्होंने कहा है। उन्होंने दोनों में एकीकरण दिखाया है। सूरदास ने भी इसी प्रकार निर्गुण और सगुण में तो अभेद ही रक्खा है, किन्तु कदाचित दोनों महात्माओं को निर्गुण-मार्गीय शाखा से इसलिये पृथक कहा गया है कि उनमें सगुनोपासना की ही विशेषता है और उसी का उन्होंने विशद वर्णन भी किया है। वास्तव में दोनों महात्माओं की रचनाओं में गूढ़ और गहन दार्शनिक सिद्धान्त बड़ी ही विचक्षणता, विलक्षणता और विदग्धता के साथ रक्खे गये हैं। ऐसे गूढ़ विषय को भी वे सरल, सुबोध और स्पष्ट रूप में व्यक्त करने में सफल हुए हैं इसके लिए उनकी जितनी भी सराहना की जाय, थोड़ी है।

भ्रमर-गीत में सूर ने उद्धव को अद्वैतवादी अथवा ब्रह्मवादी निर्गुण-मार्गीय योगी के रूप में रखकर उनके द्वारा "ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या "अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है और संसार असत्य है तथा वह ब्रह्म मैं हूँ और वह तुम हो अर्थात् "अहम् ब्रह्मास्मि", "सोऽहम्" और "तत्वमसि" का उपदेश कराया है। ब्रह्म-ज्ञान ही मुख्य या वास्तविक ज्ञान है और संसार भ्रमात्मक मायामय तथा सविकार है। इस विचार से ब्रह्म और कृष्ण दोनों में अभेद है, सर्वत्र विश्व में ब्रह्म की ही व्याप्ति है। ऐसी धारणा रखने से कृष्ण से संयोग और वियोग के भावों का प्रश्न ही नहीं उठता, और इस भाव या धारणा की अविद्यमानता में वियोग-वैकल्य का भी प्रसंग नहीं रहता। ब्रह्म की प्राप्ति अथवा अनुभूति शरीर की समस्त शक्तियों को अन्तर्मुखी करने और आन्तरिक ज्ञान-चक्षुओं को खोलकर देखने से होती है और इसके लिये पहले चित्तवृत्ति के निरोध अथवा योग की आवश्यकता है। इस प्रकार का उपदेश उद्धव के मुख से सुनकर गोपिकायें हरि-स्मरण के साथ अपनी भक्ति का प्रकटीकरण करती हैं और उद्धव को बतलाती हैं कि वे भक्ति और प्रेम से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानती। वे कृष्ण को ही आत्म-समर्पण कर चुकी हैं, उन्हीं की वे अनन्योपासिका और सेविका हैं। उनके बिना वे निर्जीव सी हैं। कृष्ण ने उन्हें अपने से पृथक करके प्रीति की रस-रीति का वास्तविक निर्वाह नहीं किया, जो उनके लिये शीलाशयाशालिनी नहीं।

इसके साथ ही गोपिकायें यह भी प्रगट करती हैं कि सगुण ब्रह्म की प्रेमाभक्ति के साधनोपासना के करने का मार्ग सरल, सीधा और सर्वत्र सर्व-साध्य है। योग और ज्ञान का मार्ग कुशल कल्पना से भी परे निर्गुण ब्रह्म के साथ बहुत ही कठिन, जटिल और दुर्गम है, विशेषतया स्त्रियों के लिये तो यह नितान्त अनुपयुक्त ही ठहरता है। इसलिये निर्गुण-पंथ हमारे लिये समुपयुक्त और समुपयोगी नहीं ठहरता। कुछ

गोपिकायें उद्धव को कृष्ण का परमैक मित्र समझ कर उनके साथ हासोपहास की सुखद वर व्यंजना रखते हुये कुछ कुतूहलमय कथन भी करती हैं, जैसे वे पूछती हैं कि "निरगुन कौन देस को बासी"-"जोग ठगौरी ब्रज न बिकै हैं"। किन्तु कुछ गोपिकायें चातुर्य-पूर्ण तर्कात्मक उत्तर भी देती हैं और ज्ञान तथा योग से भक्ति और प्रेम की विशेषता प्रकट करती हैं, साथ ही यह भी दिखलाती हैं कि ज्ञानोंपदेश का ग्रहण करनेवाला माया-जन्य मन उनके निकट है ही नहीं, जो एक मन था वह तो श्री कृष्ण के साथ चला गया और अब उनके पास एक से अधिक मन है ही नहीं, ऐसी अवस्था में वे उनके उपदेशानुसार ब्रह्माराधना के लिये पूर्णतया असमर्थ हैं, अतः यह उनके लिये व्यर्थ है।

इसी के साथ वे यह भी कहती हैं कि यह तो अपनी अपनी स्वतंत्र रुचि और इच्छा की बात है, आपको वह मार्ग अच्छा लगता है और हमें यह मार्ग—"ऊधव मन माने की बात"।

सगुण-वाद का पक्ष लेकर वे प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रधानता दे सब विश्व को ब्रह्ममय मानने के साथ ही कृष्ण को भी ब्रह्म के रूप में मानते हुए कहती हैं कि कृष्ण साकार और सांग हैं, तुम क्यों इससे इनकार करते हो, यह कैसे हो सकता है, यदि ऐसा नहीं है तो माखन किसने खाया और दूसरे बड़े-बड़े कार्य कैसे किसने किये, मुरली के द्वारा किसने उन्हें विमुग्ध किया! इसलिए यह मानना ही पड़ता है कि ब्रह्म साकार और सगुण है क्योंकि कृष्ण का, जो ब्रह्म हैं, उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव और ज्ञान है। इसी सम्बन्ध में वे उपयोगिता-वाद को भी अपने तर्क में रखती हैं और कहती हैं कि हमारे लिये हमारा मार्ग ही उपयुक्त और उपयोगी है। ऐसा कहते हुए भी वे योग और ज्ञान का महत्व कम नहीं करती, वरन् यह कहती है कि-"वैराग जोग कठिन ऊधो हम ना करी" इसी के साथ वे ऊधव को अपनी दयनीय दशा से परिचित

कराती हैं और उनके भावुक हृदय पर प्रभाव डालती हैं। अपने ध्यान की एकाग्रता से वे कृष्ण को सर्वत्र एक रस में देखती हैं और इस प्रकार सिद्ध करती हैं कि वे तो वास्तव में योग ही कर रही हैं। योग भी तो समस्त चित्त-वृतियों को सब ओर से रोक कर केवल ब्रह्म में ही लगाने का नाम है और ब्रह्म भी श्री कृष्ण से पृथक नहीं, इसलिये वे तो वास्तव में योग के द्वारा उसी में अपने को लय किये हुए हैं।

सूर ने गोपिकाओं के उत्तरों में स्त्री-सुलभ स्वाभाविक सरलता के साथ ही उनका भोलापन भी बड़ी चारुता से व्यक्त किया है। उनके पास तो बहुत बड़ा सरस हृदय है और गहन विवेक नहीं है। वे यह भी कहती हैं कि इस हृदय या मन पर वस्तुतः उनका कोई भी अधिकार नहीं। वे कहती हैं—"ऊधौ मन नहिं हाथ हमारे"—ऐसी दशा में वे ऊधव के उपदिष्ट ज्ञान को कैसे लें और ले भी लें तो करें क्या। वे कहती हैं कि "कहा करैं निरगुन लै के हम..हरि जीवै कोटि बरीस"।

अपने भोलेपन के साथ वे फिर सन्देह करती हैं कि कदाचित् ऊद्धव को कुब्जा और कृष्ण के द्वारा यहाँ भेजा गया है और इसलिए कि कृष्ण का हमारी स्मृति में जो रूप अवशेष रहा है, उसे भी वे हमसे पृथक कर ले जाँय। इस सारे प्रसंग में दार्शनिक रहस्य तो केवल उतना ही है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, किन्तु गोपिकाओं की भावनाओं का चारु चित्रण बहुत ही विशुद्ध और हृदय-स्पर्शी है। यह अवश्यमेव कहा जा सकता है कि गोपिकाओं ने ऊधव के ज्ञान-योगवाद का तीव्र शब्दों में पूर्ण स्पष्टता के साथ खण्डन नहीं किया, किन्तु उद्धव का समादर करते हुये उसे अपने लिए समुचित नहीं कहा। इस प्रसंग के द्वारा सूरदास जी ने यह भी स्पष्टतया व्यंजित किया है कि भावना-क्षेत्र में पहुँच कर वह वही निर्गुण-निराकार ब्रह्म सगुण और साकार रूप में परिवर्तित होता है और अनन्तत्व और असीमत्व के भाव के साथ ज्ञान-गम्य न रहकर भावना-गम्य ही होता है। गोपिकाओं के वचनों

तथा उनकी वियोग-जनित विविध दशाओं को देख और सुनकर उद्धव पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे यही ध्वनित होता है कि उद्धव एक नितांत निष्ठुर और नीरस योगी नहीं वरन् एक भावुक भक्त होने के लिए सुन्दर सरस हृदय और कोमल भावना भी रखते हैं। उनका हृदय मया-दया-रस से द्रवीभूत होकर गोपिकाओं के भाव में घुल-मिल जाता है और उनमें भी भक्ति और प्रेम का पूरा संचार हो जाता है।

इस प्रसंग से अतिरिक्त रास आदि के वर्णन में भागवत के अनुसार अन्योक्ति-पद्धति का भी सुन्दर अनुसरण किया गया है और बराबर यह व्यंजित किया गया है कि भगवान कृष्ण ब्रह्म या परमात्मा-स्वरूप हैं और राधिका उनकी मोहनी माया-शक्ति के रूप में दिव्य देवी और गोपिकायें भगवत् लीला-रसिका पुण्य आत्मायें हैं और यह सारा रस-विलास प्रसंग-भगवान की दिव्य लीला का प्रदर्शन मात्र है। इसी प्रसंग में वाह्य प्रकृति के स्वरूप को भी सूरदास ने चारुता से चित्रित किया है और यह ध्वनित किया है कि जड़ प्रकृति अथवा माया ईश्वरानुवर्तिनी है तथा मानव-मस्तिष्क की दशा से प्रभावित होकर उसीकी अनुरूपता में प्रवर्तित होती है, किन्तु कहीं कहीं उन्होंने प्रकृति की सत्ता और महत्ता को स्वतंत्र रूप में भी दिखलाया है। जैसे अपने को कृष्ण-वियोग से व्यथित देखते हुए और प्रकृति को अपने अपरवर्तित रूप में देखकर गोपिकायें साश्चर्य कहती हैं और अपने विकल मन की दशा के कारण वन-वृक्ष आदि को भी सजीव मानकर उनसे पूछती हैं,—"मधुवन तुम कत रहत हरे", किन्तु वे कभी कभी प्रकृति को भी भगवान के वियोग से व्यथिता के रूप में देखती हैं और अपने ही समान प्रकृति की वस्तुओं को भी भगवान कृष्ण के उपस्थित न रहने पर वियोग-व्यथा-दग्ध देखती हैं—"देखियत कालिन्दी अति कारी"—इस प्रकार प्रकृति के सम्बन्ध में विरोधी भावों का चित्रण करते हुये सूर ने यह व्यंजित किया है कि प्रकृति की सत्ता और महत्ता आत्म तत्व

की कल्पना पर ही आधारित है, वह असत्य होते हुये भी आत्मा के वास्तविक रूप में पहुँच जाने तक सत्य ही है।

अब सब का संक्षिप्त निश्कर्ष यह है कि सूरदास ने अध्यात्म और दार्शनिक ज्ञान को विशेषता नहीं दी, प्रसंगवशात् उसे यथेष्ट रूप में सांकेतिक ढंग से व्यंजित अवश्यमेव कर दिया है और वह भी भागवत के ही आधार पर। उनका उद्देश्य तुलसीदास के समान "नाना पुराण निगमागम सम्मतम्" के देने का न था। उनका तो उद्देश्य श्री हरि-लीला-रस के आनन्द-स्वाद का लेना और देना ही था और इसमें वे सर्वथा सफल भी हुये हैं।

सूर काव्य में चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण का जितना महत्वपूर्ण स्थान नाटक और उपन्यास आदि में है, उतना यद्यपि काव्य में नहीं, तथापि काव्य में उसे भुलाया भी नहीं जा सकता। जहाँ कहीं भी कथात्मक काव्य या प्रबन्धात्मक काव्य आता है, वहीं चरित्र-चित्रण को भी महत्व देना पड़ता है। नाटक में जिस प्रकार नायक और नायिका के चरित्र-चित्रण के लिये कुछ निश्चित नियम निर्धारित किये गये हैं, काव्य में उस प्रकार नहीं, फिर भी काव्यगत नायक और नायिका नाटकीय रस-सिद्धान्त से प्रभावित होने के कारण उन चरित्र-समबन्धी नियमों से नियंत्रित ही रक्खे जाते हैं, किन्तु यह बात लौकिक नायक और नायिका के चरित्रों के लिये है। जिस काव्य में परमात्मा ही नायक और उसकी माय-शक्ति ही नायिका हो अथवा जिस काव्य में भगवान नारायण-स्वरूप ही नायक हैं और ईश्वरावतार के भाव के साथ चित्रित किये गये हैं, वहाँ उनके चरित्र का चित्रण विशेष रूप में मार्मिकता से ही किया जाता है क्योंकि भगवान और उनकी रहस्यात्मक लीला सर्वथा विचित्र है, लोक-सीमा से परे हैं, अतएव लौकिक चरित्र का आरोप उस पर नहीं होता, क्योंकि लौकिकता का उसमें आभास मात्र ही रहता है, रहता वस्तुतः वह अलौकिक ही है। इसीलिये भगवनलीला-संबन्धी काव्य में भगवान का चरित्र विचित्र रूप मे दुर्ज्ञेय सा रहता है। उसमें लोक-मर्यादा से विरुद्ध बातें चरितार्थ होती हुई दिखलाई जाती हैं।

यही कारण है कि राम और कृष्ण सम्बन्धी काव्यों में अनेक प्रकार की शंकायें उत्पन्न होती हैं। लौकिकता की दृष्टि से देखने पर बहुधा इनके कार्य लोक-नीत का अतिक्रमण सा करते हुए जान पड़ते हैं

किन्तु यह स्मरणीय है कि इस काव्य में इस बात का सांगोपांग निर्वाह कर ले जाना बहुत बड़े शुद्ध हृदय वाले प्रखर प्रतिभावान ऐसे भक्ति कवि का ही काम है, जिसमें बोध-वृति और भावना-वृत्ति का साम्यात्मक संतुलन और सामंजस्य हो, क्योंकि उसे लौकिक और अलौकिक दोनों का सफल समन्वय करना पड़ता है। दिव्यादिव्य का एकीकरण व्यक्त विरोध की चरितार्थता के साथ उसके लिये अनिवार्य होता है—तुलसीदास ने तो इन्हीं बातों का विचार करके मानस के प्रारम्भ में ही कई बार कई प्रकार से हरि-चरित्र की गूढ़ता, विच्चित्रता और दिव्यता को प्रगट करते हुए लोक-दृष्टि से भी उसे शंका करने के योग्य नहीं कहा। साथ ही यह भी प्रगट कर दिया है कि हरि-चरित सम्बन्धी काव्य-साहित्य को केवल एक कथा-काव्य की दृष्टि से देख केवल हरि-चरित्रास्वाद में विशेष रस की प्राप्ति नहीं होती—"रामचरित जे सुनत अघाहीं-रस विशेष पावा तिन नाहीं"—।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि भक्ति-काव्य में चरित्र-चित्रण का कोई विशेष महत्व नहीं, वरन् भगवद् रस के दिव्या स्वाद का ही विशेष महत्व है। भगवान का चरित्र तो यदि अज्ञेय नहीं तो दुर्ज्ञेय अवश्यमेव है। उसके गूढ़ गहन रहस्य का सर्वथा जानना कठिन है। इसी कारण मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम की लीला में यदि शंकायें उत्पन्न होती हैं तो रसिक-राज भगवान कृष्ण की भी लीलाओं में तो और भी उत्पन्न हो सकती हैं। यों तो भगवान कृष्ण का चरित्र बाल्यकाल से लेकर पूर्णावस्था तक का सारा जीवन-चरित्र स्थान स्थान पर विचक्षण बुद्धि-गम्य होकर विलक्षण है किन्तु दो तीन कार्य उनके विशेष शंकायें उत्पन्न करते हैं, जैसे गोपिकाओं के साथ उनका रस-विलास; स्नान के समय में उनके वस्त्रों का अपहरण और बाल्यकाल में माखन और दही के चुराने के कार्य। विशेषतया इन्हीं को लेकर कृष्ण-काव्यकारों पर आलोचकों ने बहुत दोषारोपण

किया है और यह कहा है कि उन्होंने लोक-मर्यादा का उल्लंघन कर कृष्ण जैसे चरित्र-नायक के पवित्र चारु चरित्र को दूषित बनाने का अक्षम्य अपराध किया है। इस लिये यहाँ पर संक्षेपतया सांकेतिक रूप से ऐसी कुछ मुख्य शंकाओं का सूक्ष्म समाधान कर देना उचित जान पड़ता है।

हिन्दी के कृष्ण-काव्यकारों और विशेषतया सूर ने अपने कृष्ण-काव्य की समस्त सामिग्री को भागवत पर ही सर्वथा समाधारित किया है, इसलिये उन पर ऐसा मिथ्या दोषारोपण करना वस्तुतः उनके प्रति अन्याय करना है। भागवत में कृष्ण का चरित्र चित्रित करके यह दिखलाया गया है कि वास्तव में यह चित्रण अन्योक्ति-पद्धति पर चलाया गया है और प्रतीक रूप में लिये गये पात्रों के द्वारा अध्यात्म ज्ञान का काव्योचित निरूपण किया गया है। श्री कृष्ण वास्तव में भगवान विष्णु के पूर्णावतार ही हैं, निर्गुण होकर भी वह सत्व, रजस् और तमस् गुणों के साथ सगुणत्व को प्राप्त हुये हैं और अपने वास्तविक पद से वे नीचे आ गये हैं, इसीलिये उन्हें अवतार के रूप में माना गया है। इस रूप में उन्हें अपनी असीम अलौकिकता के साथ ही साथ लौकिकता की संकीर्ण सीमा में रहकर कार्य करना था। मानवीय बल-बुद्धि और भावना का संसारोचित स्वरूप प्रकट करते हुये अपने दिव्य रूप को भी कौशल से व्यक्ताव्यक्त रूप में रखना था इसीलिये उनके चरित्र में दुर्बोधता का आना और उससे शंकाओं का उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है।

श्रीकृष्ण के चरित्र में मुख्य विशेषतायें इस प्रकार देखी जा सकती हैं कि उनका चरित्र एक ओर तो विलासतामय सा जान पड़ता है और दूसरी ओर सर्वथा योगात्मक तथा विरक्तिमय दिखायी पड़ता है अर्थात् उनके चरित्र में अनुरक्ति और विरक्ति दोनों के गाढ़े रङ्ग

हैं। वे रसिक-राज भी हैं और योगी-राज भी हैं। शृंगार और शान्त दोनों रस उनके चरित्र को सिंचित करते हैं, वस्तुतः वे हैं भी उस विष्णु और नारायण के अवतार, जो इन दोनों रसों के देवता हैं। बाल्य-काल से लेकर पूर्ण युवा काल तक उनका चरित्र वास्तव में रसिकतामय है। सौन्दर्य-प्रियता की मनोवृति उनमें प्रधान है, वे सौन्दर्योपासक और सौन्दर्योपासकों के भी उपास्य हैं। उनमें उनके अंतरङ्ग और वहिरङ्ग दोनों रूप सौन्दर्य-सुख-रस से आप्लावित हैं। वे भी जहाँ कहीं सौन्दर्य देखते हैं, वहीं रमते और विरमते हैं। परम सौन्दर्य-शालिनी मोहनी-माया-रूपा राधिका उनकी इसीलिए परम प्रिया हैं। इसी सौन्दर्योपासना की भावना ने उन्हें गोपिकाओं में अनुरक्त कर दिया था। गो-रक्षक और गोपाल हैं इस विशेषता ही के कारण वे गोपाल भी कहे जाते हैं। इससे दो विशेष तात्पर्य हैं, एक तो यह है कि वे गो या इन्द्रियों के परिपालक चन्द्र से समुज्वल मन के रूप में हैं क्योंकि सगुणत्व और साकारत्व के प्राप्त होने पर उनका शुद्ध आत्म स्वरूप विशुद्ध मन के रूप में आगया है और वे कृष्ण चन्द्र हो गये हैं।

कृष्ण के तीन प्रकार के नाम कृष्ण-काव्य में आते हैं, एक तो ज्ञान पारीक, दूसरे उपासना-पारीक और तीसरे कर्म-पारीक—गोविन्द-गोपेश और गिरधर जैसे नाम उदाहरण के रूप में रक्खे जा सकते हैं। इस प्रकार यह व्यंजित किया गया है कि ज्ञान, उपासना और कर्म तीनों ही का समन्वय कृष्ण काव्य में है।

कृष्ण-चरित्र से यह भी व्यंजित होता है कि प्रकृति और प्रकृति की शक्तियों पर उन्होंने विजय प्राप्त कर ली है और उन पर उनका अधिकार है। जैसे दावानल-पान से अग्नि पर, यमुना को पद-स्पर्श देते हुये और प्रलय-वृष्टि को रोकते हुये जल पर, तृण-वर्त के वध से वायु

घर, गोबर्धन नामक धराधर के उठाने से पृथ्वी पर और मुरली-नाद से शब्द-गुणात्मक आकाश पर पूरा अधिकार प्रगट होता है।

उनके पूर्व चरित्र में प्रेम का बहुत गहरा प्रभाव है, धार्मिक रूप में वे प्रेम स्वरूप हैं ही। सौन्दर्य और प्रेम दोनों में नैसर्गिक सम्बन्ध है। इसी प्रेम के कारण कृष्ण-प्रेमियों के भक्त भी हो जाते हैं और उन्हीं में रमते रहते हैं। दूसरे को अपने प्रेम से वश में करते हुए आप भी उसी के वश में हो जाते हैं। उनका यह प्रेम और भी आकर्षक हो जाता है। उनकी कुतूहल-कारिणी कौतुकी प्रवृत्ति के द्वारा वे विनोद-प्रिय हैं और इसीलिये कौतूहलमय कौतुक-प्रिय भी हैं। धार्मिक रूप में उन्हें लीला-दुर्ललिताद्भुत् व्यसनी भी कहा गया है।

"लीला दुर्ललिताद्भुत-व्यसनिने देवाय तस्मै नमः"

उनके कमनीय कौतुकों को देखकर वस्तुतः आश्चर्य होता है और इसीलिये उनके गूढ़ कौतुकों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। यही जिज्ञासा उनके भक्तों को ज्ञानाब्धि में सुस्नात कराकर उनमें नितांत शान्त कर लय करती है। उनके कौतुकों में से अति प्रधान और प्रिय कौतुक कन्दुक-क्रीड़ा, आँख-मिचौली और दधि आदि की चोरी है। वे चौराग्रगण्य कहे गये हैं ("चौराग्र-गण्यं शिरसा नमामि")। चित्त-चोर होकर भी वे अन्य वस्तुओं के भी चोर हैं। माखन और दधि तो विवेक और विवेक-सार के प्रतीक हैं, वे वास्तव में इन्हीं के चोर हैं, अर्थात् वे भक्तों के विवेक को अपनी ओर लेकर उनमें भव्य भक्ति-भावना भर देते हैं। उन्हें चित-चोर भी कहा गया है अर्थात् वे चित की वृत्तियों को भी चुरा लेते हैं अर्थात् उन्हें अपने पास रख लेते हैं। इसीलिये भक्तजनों की चित्र-वृतियाँ उनकी ही हो जाती हैं। इसी प्रकार वे चित्त को भी ले लेते हैं, जो अन्तःकरण-चतुष्ठय का एक अंग मात्र

है, यह चित ही ब्रह्म का एक रूप है और ब्रह्म को चिद् रूप कहा भी गया है।

कन्दुक-क्रीड़ा में कंदुक ब्रह्मांड अथवा पृथ्वी के गोले का प्रतीक है, यही उनकी क्रीड़ा वस्तु है। इसी प्रसंग के साथ कृष्ण की आँख-मिचौली का खेल भी आता है, जिसमें संगोपन-प्रियता और रहस्योद्घाटन-प्रियता की मनोवृत्तियाँ सन्निहित रहती हैं। इन कौतुकों में कृष्ण आत्म-सम्मान और आत्म-प्रभुत्व को प्रधानता देते हैं, किन्तु घनिष्ट इष्ट मित्रों के साथ वे इन्हें छोड़ भी देते हैं। मैत्री-भाव उनका बहुत ही आदर्श-रूप का है, वे सच्चे मित्र अथवा सखा हैं और मित्र के लिये अपना सब कुछ खो सकते हैं, मित्रों की रक्षा करना, उन्हें दुखों से बचाना और सुख-समृद्धि देना वे अपना कर्तव्य समझते हैं। बाल्यकाल में ही उन्होंने ग्वाल-बालों को इसी मित्रता के नाते कतिपय आपत्तियों से बचाया और सुखी किया। बाल्य काल की मैत्री उनके हृदय में उनकी अवस्था, स्थिति आदि में अन्तर के आ जाने पर भी किंचिन्मात्र भी मलिन न होकर और अधिक विकसित होती है। श्रीदामा अथवा सुदामा के साथ बड़ी अवस्था के प्राप्त हो जाने पर भी उनका सखा-भाव आदर्श-रूप में रहता है।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण एक सच्चे मित्र हैं, उसी प्रकार वे शत्रु भी हैं। जितनी गाढ़ी मित्रता या शत्रुता का व्यवहार कोई उनसे करता है, उतनी ही गाढ़ी मित्रता या शत्रुता से वे भी उसे मिलते हैं। कंस का जैसा शत्रु भाव था वैसे ही शत्रु भाव से वे उसे प्राप्त हुये अर्थात् शत्रुता और मित्रता दोनों दशाओं में वे साम्य भाव रखते हुये मिलते हैं। यद्यपि वे मित्र के हित-कारक और शत्रु के विनाशक हैं, किन्तु अन्त में दोनों का समान रूप में हो वे परम हित करते हैं, अर्थात् शत्रु और मित्र दोनों को सुर-दुर्लभ सुगति देते हैं। उनके चरित्र की विशेषता है गर्व का विनाश करना। वे इसीलिये गर्वापहारी भी कहे गये हैं।

अभिमान और अभिमानी उन्हें कदापि प्रिय नहीं, चाहे वे कोई भी हों। परम प्राण-प्रिया गुणाधिका राधिका और प्रीति-रूपिणी गोपिकाओं को भी वे उनके गर्व के कारण छोड़कर वियोग से दुखी करते हैं। यद्यपि उन्हें वे हृदय से भूलते कदापि नहीं और जब उनका अभिमान छूट जाता है तब वे उन्हें प्राप्त भी हो जाते हैं।

भगवान श्री कृष्ण को भक्ति अति प्रिय है, चाहे वह भक्ति किसी में भी हो। बिना किसी प्रकार का भेद-भाव रक्खे हुये वे भक्त को अपना कर उसके हित के लिये सभी कुछ करते हैं। इसीलिये उनके मुख से कहलाया गया है—"हम भगतन के भगत हमारे"—भक्तों के लिये वह अवतार भी ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार वे साधुओं को प्रिय और साधु उनको प्रिय हैं, उनका वे सदैव परित्राण करते हैं, दुष्टकर्मियों को दण्ड देकर मुक्त भी करते हैं। वे धर्म-पालक और धर्म-रक्षक भी हैं, किन्तु साथ ही रीति-नीति-कुशल और न्याय-नय-नागर नेता भी हैं।

उनकी धार्मिक दृष्टि में उपयोगितावाद की चारु चमक है। सुरेश इन्द्र की पूजा के स्थान पर गोवर्धनार्चना की परम्परा का चलाना यही सूचित करता है। न्याय और नीति के साथ नेतृत्व कार्य करते हुये भी वे उत्सव की पूर्ति-मूर्ति हैं। कंस के राज्य को अपने हाँथ में आया हुआ पाकर भी वे उसे उसके उचित अधिकारी को ही सौंप देते हैं। स्वयमेव राजा न बनकर राजा बनाने वाले बनते हैं और इस प्रकार लोभ पर विजय प्राप्त करते हुये, त्याग की साकार मूर्ति के होने का प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं। व्यवहार-कुशलता उनके चरित्र की अपर सुन्दर विशेषता है। प्रत्येक व्यक्ति के साथ उनका यथोचित तथा यथेष्ट व्यवहार रहता है। वे बस भाव के ही भूखे हैं, सद्भावना के भक्त हैं, और प्रेम के प्रेमी हैं, इसीलिये अपने वास्तविक माता-पिता को छोड़कर वे

अपने प्रति परम वात्सल्य-भाव के रखने वाले नन्द और यशोदा के ही नितान्त नन्दन बनकर उनका अभिनन्दन और वन्दन करते हैं, किन्तु वसुदेव और देवकी के प्रति उनका भाव किसी भी प्रकार कुछ कम नहीं होता। व्यवहार-कुशलता का उत्कृष्ट या अच्छा उदाहरण उद्धव के प्रति उनके आदर्श व्यवहार में मिलता है। उद्धव को अपनी गम्भीर ज्ञान-गरिमा महिमा पर कुछ गर्व है, वे उसका समादर करते हुये उन्हें बड़े चतुर ढंग से ब्रज-गोपिकाओं के पास भेज कर दूर करते हैं।

लोक-हित और लोक-कल्याण के भाव का उनके आदर्श चारु-चरित्र पर बहुत गहरा प्रभाव रखता है। कालीयदमन, कंस-वध, गोवर्धन-धारण आदि कार्य इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसी प्रकार दावानल-पान और अघासुर तथा बकासुर आदि के वध भी इसकी पुष्टि करने वाले कार्य हैं। मैत्री-भाव के प्रभाव से ही अपनी प्रतिष्ठा को भी कुछ कम करते हुये मित्र की सहायता करना उनका ऐसा विशेष गुण है, जिसका उदाहरण महाभारत के युद्ध में अपने प्रिय सखा अर्जुन को स्वयमेव सारथी होकर रहने में मिलता है। यथास्तितथा का भाव उनके व्यवहाराचार्य में विशेषता से रहता है और वह उनके सभी चरित्र में व्यापकता से मिलता है। परिस्थिति के विपरीति होने पर भी वे अपने सगे सम्बन्ध को चारु चातुर्य से निबाहते हैं। जैसा दुर्योधनार्जुन के रण-निमंत्रण के प्रसंग में स्पष्ट दीखता है। अपने भक्त और वयोवृद्ध जनों के वचनों का प्रतिपालन करते हुये अपने वचनों की भी चिन्ता न करने में संकोच नहीं करते, भीष्म-प्रतिज्ञा के रक्षण से यह सर्वथा स्पष्ट है।

इस प्रकार कृष्ण के जीवन को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका जीवन बड़ा ही गम्भीर और दुर्बोध है। उनका लोक-चरित्र अनेक विशेषताओं से भरा हुआ है। महात्मा सूरदास ने कृष्ण के

जीवन का केवल पूर्वार्ध ही अपने काव्य में चित्रित किया है, इसलिये उसका चित्रण एकाङ्गी सा हो गया है। कृष्ण का बाल्य जीवन और रसिक नायक-जीवन ही सूर का वर्ण्य विषय रहा है। इसलिये सूर ने उनके इन्हीं दोनों जीवनों की प्रमुख विशेषताओं को दिखलाते हुये इन्हें ऐसे रूपों में चित्रित किया है कि उनकी भौतिकता में भी दिव्यता की पूरी झलक झलकती है। बाल्य काल में सूर ने कृष्ण को एक सरल और सीधे बालक के रूप में दिखलाते हुये भी उन्हें चातुरी-माधुरी से चित्रित किया है। कृष्ण बड़ी सिधाई और सरलता से फुसलाने में भी आ जाते हैं और कभी चातुरी दिखलाने पर भी नहीं आते।

चोटी के बढ़ने के लालच से माता फुसला कर उन्हें दूध पिलाती हैं। वे भोले-भाले ढंग से कहते हैं कि मुझे दूध पीते दिन हो गये फिर भी वह चोटी ही बनी है। इसी प्रकार बड़े सरल भाव से वे मक्खन-रोटी माँगते हैं, किन्तु इसी के साथ वह यह भी कहते हैं कि मुझे जो जो मैं मागूँ, दिया करो, जिससे मैं कंस को पछाड़ सकूँ। बाल्य काल से ही उनके अन्दर बड़े बड़े कार्यों के लिये अदम्य उत्साह और अशेष आवेश प्रगट होता है। उन्हें बाल्यकाल से ही मिथ्यावाद से भय होता है, वे उससे सदैव बचना चाहते हैं। हास-परिहास में भी वह इसे सहन नहीं कर सकते।

इन्हें इसी लिये बुरा लगता है जब बलदेव उन्हें नन्द-यशोदा का क्रीत पुत्र कहते हैं। उन्हें स्पष्टवादिता प्रिय है और वे सब कुछ स्पष्ट रूप में सर्वदा माता से कह देते हैं, किन्तु अपनी चोरियों को वे चालाकी से छिपाते भी हैं। इन चारु चालाकियों में उनका भला भोलापन भी झलकता है। बालकपन से ही वे मधुर भाषी और मधुर पदार्थ प्रेमी हैं, कटुता उन्हें प्रिय नहीं। माधुरी न केवल उनके रूप-सौन्दर्य में ही मोहकता उत्पन्न करती है, वरन् उनके प्रिय वचनों

और उनके कार्यों में भी वह अपना पूरा प्रभाव रखती है। संगीत और नृत्य की कमनीय कलायें उन्हें सम्भवतः अति प्रिय हैं, गीत और वाद्य दोनों में उनकी अभिरुचि और पटुता प्रगट होती है। नृत्य-कला की परमोत्कृष्टता उनके रास-नृत्य से स्पष्ट है। वे गूढ़ और गम्भीर हृदय भी रखते हैं और अपने रहस्यों को प्रगट नहीं होने देते। भक्त-वात्सलता उनमें इतनी है कि उसके लिये वे अपनी प्रतिष्ठा और मान मर्यादा को भी कुछ नहीं मानते, इसीसे प्रेरित होकर वे विदुर और कुब्जा को अपनाते हैं। यद्यपि इसके लिये उन्हें ब्रज की गोपिकायें अच्छा नहीं कहतीं, वरन् उनकी एक प्रकार से निन्दा सी ही करती हैं। वे कहती हैं कि वे अब दासी के हो रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि कृष्ण हृदय से सच्चे भाव और सच्ची भावना को चाहते और सराहते हैं। इस प्रकार सूर ने कृष्ण के लोक-चरित्र को एक आदर्श चित्र के रूप में चित्रित किया है और सर्वत्र उसमें उनकी दिव्यता और महानता की ओर संकेत किया है।

कृष्ण के साथ ही राधिका का चरित्र भी लिया जा सकता है। राधिका यद्यपि एक कल्पित पात्र के रूप में हैं, फिर भी यदि उनका समावेश कृष्ण-काव्य में सूर आदि कविवरों के द्वारा किया गया है तो उनके चरित्र-चित्र को देखना भी आधुनिक युग में युक्ति-संगत है। राधिका भगवान की आह्लादिनी शक्ति और मोहिनी माया के रूप में हैं और वह भी विशेषतया कुछ अविद्या माया सी है, इसीलिये सूर ने राधिका को विशेष रूप में कहीं अधिक बोलने भी नहीं दिया। राधिका अपने सौन्दर्यादि गुणों से कृष्ण को अपनी ओर आकर्षित करती हैं, किन्तु कृष्ण को अपने में अनुरक्त देख वह गर्व भी करती हैं। उनमें भी अहम्मन्यता और आत्म-सम्मान का गहरा भाव है।

राधिका भी कृष्णानुराग में अनुरागिनी है और कृष्ण से पृथक कदापि नहीं रहना चाहती। कृष्ण-वियोग का जितना गहरा प्रभाव उनपर

पड़ता है उतना अन्य गोपिकाओं पर नहीं। राधिका में भी कुतूहल-कौतुक-प्रियता झलकती है। नृत्य-गीत आदि में उनकी भी सुरुचि है। वन-विहार और जल-विहार उन्हें भी प्रिय है। राधिका के चित्र को अधिक विस्तार के साथ कृष्ण-काव्य में चित्रित नहीं किया गया। दूसरे दृष्टि-कोण से राधिका प्रेमाभक्तिरूपा और दाम्पत्य-भाव की मधुर मूर्ति सी हैं, उनमें भी श्रृंगार और प्रेम का प्रावल्य-प्राधान्य है।

राधिका के साथ चन्द्रावली जैसी कुछ अन्य गोपिकाओं के चारु चरित्र-चित्र भी आते हैं, किन्तु उनके चित्रण विशेष रूप में सूर और अन्य कृष्ण-काव्यकारों के द्वारा नहीं किया गया। यद्यपि गोपिकाओं के तीन वर्ग पृथक पृथक मिलते हैं। एक वर्ग में तो यशोदा की सखियाँ और समवयस्का गोपिकायें आती हैं, उनमें यशोदा का सा वात्सल्य पाया जाता है। वे कृष्ण को एक आदर्श साँचे में ढालना चाहती हैं, इसी लिये वे कृष्ण की चोरी आदि से कुछ खीझकर यशोदा को उलाहने देती हैं, किन्तु कृष्ण को चित्त से इतना चाहती हैं। वे अपने उलाहनों के कारण उन्हें यशोदा से किसी प्रकार दंडित नहीं कराना चाहतीं वरन् यशोदा के रुष्ट होने पर उन्हें समझाती और अन्यथा कथन करती हैं। दूसरा वर्ग उन गोपियों का है, जो राधिका की सहेलियाँ हैं और कृष्ण के साथ अपनी सहेली का उन्हें नायक समझ कर स्नेह-भाव रखती हैं। यह उनका माधुर्य-भाव है, उन्हें राधिका के साथ कोई ईर्षा-स्पर्धा नहीं, वरन् वे केवल कृष्ण की मधुर मूर्ति को देखकर ही अपने को कृतार्थ मानती हैं। तीसरा वर्ग उन गोपियों का है जो कृष्ण के साथ राधा का सा प्रेम-भाव रखती हैं और अपने को भी वैसी ही कृष्ण की प्रिया समझती हैं। इनमें कभी कभी राधिका के प्रति कुछ रोष-द्वेष सा भी झलकता है। ऐसी गोपियाँ कृष्ण को अपनी ओर आकर्षित करना चाहती हैं, इनमें भी कृष्ण के प्रति बहुत बड़ी तीव्र अनुरक्ति और भक्ति है। यह भी कृष्ण को अपने से कदापि पृथक नहीं देखना

चाहतीं, किन्तु यह सोच और समझ कर कि राधिका के प्रति कृष्ण का अधिक अनुराग है, अपने को वे राधिका के साथ मिला लेती हैं और उसके प्रति सहानुभूति और समवेदना भी रखती हैं।

कृष्ण-काव्य में नन्द और यशोदा का भी चरित्रांकन अपना विशेष स्थान रखता है। नन्द एक प्रतिष्ठित और सम्पन्न व्यक्ति हैं। उनका प्रभाव सारे ब्रज पर है। सारा ब्रज उन्हें आदर और ऊँचे भाव से जानता-मानता है, वे ब्रज के प्रधान हैं। संतति-हीन होने से वात्सल्य भाव की अधिकता है। वे कृष्ण को पाकर अपने जीवन को कृतार्थ मानते हैं। यद्यपि वे यह नहीं जानते कि कृष्ण वास्तव में ईश्वरावतार हैं, फिर भी कृष्ण में उनका तीव्र अनुराग है। सूर ने नन्द का कोई विशेष वर्णन नहीं किया, कृष्ण नन्द के साथ भोजन करते हैं, और अपने बाल-स्वभाव से नन्द को भी खिला देते हैं। नन्द वात्सल्यभाव से कृष्ण की इस लीला से विमुग्ध होते हैं—"जेंवत कान्ह नन्द की कनियाँ"-कभी कभी कृष्ण के बाल-कौतुकों को देखने के लिये यशोदा नन्द को बुला लेती हैं और वे कृष्ण-कौतुक को देख आनन्द-विभोर हो जाते हैं।

इसी प्रकार कृष्ण के कुछ और कौतुकों में समय समय पर वे अपनी अभिरुचि प्रगट करते हैं। इससे अतिरिक्त और अधिक नन्द का कोई विशेष चित्र सूर ने नहीं अंकित किया, वरन् इनकी अपेक्षा यशोदा के चरित्र-चित्रण की ओर सूर ने अधिक ध्यान दिया है। सूर ही ने क्या अन्य कृष्ण-काव्यकारों ने भी यशोदा की कृष्ण में नन्द की अपेक्षा अधिक अनुरक्ति दिखायी है। कृष्ण भी यशोदा से अधिक प्रीति मानते हैं। यशोदा को ही उन्होंने अपने दिव्य स्वरूप और अपने ईश्वरत्व का परिचय दिया है, किन्तु यशोदा उस परिचय को भूल भी जाती हैं और इस विस्मृति का कारण उनकी मस्तिष्क की

दुर्वलता नहीं, वरन् कृष्ण के प्रति उनकी प्रवल वात्सल्य-भावना है। कृष्ण को वह यहाँ तक भूल जाती हैं कि वह उन्हें साधारण सा बालक ही समझकर चोरी आदि के लिये दंड भी देती हैं। यशोदा कृष्ण को मृत्तिका-भक्षण और दही, दूध आदि के चुराने के लिये ताड़ना भी देती हैं, किन्तु होती वह सदा कृष्ण के ऊपर निछावर ही हैं।

भगवान कृष्ण की रूप-माधुरी और बाल-कीड़ा आदि पर अपने को वारती हुई वे एक प्रकार से अलौकिक आनन्द में मग्न हो जाती हैं। मुख से मिट्टी उगलाने के लिये छड़ी लेकर कृष्ण को ताड़ना तो वह देती हैं किन्तु फिर प्रेम-मगन भी हो जाती हैं। "मोहन काहे न उगिलौ माटी।"

जब वे इस प्रकार उन्हें भय-भीत करती हुई ताड़ना देती हैं तभी भगवान मिट्टी उगलने के बहाने से अपना मुख खोलकर अपने विराट् स्वरूप को प्रत्यक्ष कर देते हैं। इसी प्रकार भगवान ने उन्हें एक ही समय में दो स्थानों पर अपने को प्रगट करते हुए अपनी विभुता का भी परिचय दिया है किंतु इस पर भी यशोदा उन्हें अपना बच्चा ही समझती हैं। यशोदा यद्यपि कृष्ण को अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय मानती हैं किन्तु वे कृष्ण की शैतानी का उलाहना सुनकर उन पर कुपित भी होती हैं। उनका विचार कृष्ण को सद्गुणी और सदाचारी बनाने का है, इससे उनकी साधुता और न्याय-प्रियता का भी परिचय मिलता है।

यशोदा का भी सारे ब्रज की गोपियों में समादर होता है, कुछ गोपिकायें उलाहना देते हुए उन्हें कृपिण भी कहती हैं और बतलाती हैं कि बड़े भाग्य से इस वृद्धावस्था में तुमको कृष्ण सा सुन्दर लड़का मिला है और साथ ही भगवान की कृपा से सब प्रकार की सम्पन्नता भी मिली है, फिर भी तुम उसे दही-मक्खन आदि के देने में कृपिणता दिखलाती

हो:—"महरि तू बड़ी कृपिन है माई"। किन्तु इससे सूर का यह तात्पर्य नहीं कि यशोदा वस्तुतः कृपिण हैं वरन् यह तो एक उपालम्भ की झलक वाली एक व्यंग्योक्ति मात्र ही है। वस्तुतः यशोदा का हृदय बहुत ही उदार है।

राधिका के प्रति भी यशोदा का भाव इसीलिये बहुत वात्सल्य और प्रेम से संकुलित, लव-लुलित तथा मंजु ममता मुकुलित है। चूँकि राधिका और कृष्ण की बाल्य काल ही से बहुत बनती आयी है, इसी से यशोदा को राधिका भी हरिसी ही प्रिय हैं। यशोदा में स्त्री-सुलभ सरलता और सहृदयता भी बहुत है, वे कृष्ण को ममता-स्मूर्ति माता के रूप में प्रायः बहुत समझाया करती हैं। ताड़ना देते हुए कृष्ण की रुदनावस्था की मंजु मूर्ति को देखकर वे मुग्ध हो जाती हैं और ताड़ना देना भी भूल जाती हैं। इससे उनकी सौंदर्य-प्रियता, वात्सल्य-भावना तथा कारुणिकता प्रगट होती है। कृष्ण के चले जाने पर यशोदा वारम्वार उनका स्मरण करती हैं और उनके लिये उनके प्रिय भोज्य पदार्थ निकालकर प्रतिदिन रक्खा करती हैं, यह उनकी मंजुल और मृदुल-मया-ममता है। कृष्ण के पृथक होने का उन्हें हार्दिक दुःख है और वे सदैव चिन्तित-चित्त रहती हैं। कृष्ण के लिये वे अपना सब कुछ छोड़ सकती हैं। उनमें असाधारण धैर्य और क्षमता भी है। वे बड़े साहस से कृष्ण की पार्थक्य-पीड़ा का दुःख सहन करती हैं। एक सच्ची सती-साध्वी हिन्दू सुग्रहिणी के रूप में यशोदा को अपने धर्म-कर्म, रीति-नीति, आचार-विचार और परिपाटी-परम्परा का सदैव पूरा ध्यान रहता है। वचन-चातुरी भी उनमें सराहनीय रूप में है।

वे प्रातः काल कृष्ण को जगाती हैं-तो बड़े सुन्दर बहाने से। अपने बच्चे को सुखद निद्रा से वञ्चित करना तो उन्हें अभीष्ट नहीं है किन्तु सूर्य्योदय के पश्चात् तक सोते रहने के बुरे स्वभाव के पड़ जाने की

आशंका से वे उन्हें जगाने के लिये वाध्य भी होती हैं, इसलिये वे कहती हैं कि देखो तुम्हारे साथी खेलने के लिये आते हैं और तुम्हें सोता देख कर लौट जाते हैं। यदि मेरा विश्वास न करो तो स्वमेव आँखे खोल कर देख लो। कृष्ण के प्रति उनका वात्सल्य भाव इतना अधिक है कि उसके कारण कभी वे पक्षपातसा भी करने लगती हैं। गोपिकायें जब उलाहना लाती हैं तब वे कभी कभी खीझ भी उठती हैं और कहती हैं कि मेरा कृष्ण अभी ऐसी शैतानी क्या जाने, तुम झूठे उलाहाने लाती हो। उनका स्वभाव भी कुछ भोला भाला सा है, वे वाल कृष्ण के कभी कभी समझाने में भी आ जाती हैं। कृष्ण कहते हैं कि मैंने माखन तो नहीं खाया, झूठे ही मुझे चोरी लगायी जाती है, और यशोदा इसे मान भी लेती हैं। इसी प्रकार गायों को चराकर संध्या में कृष्ण घर आकर वलराम और अन्य गोप-सुतों की शिकायत करते हैं, तब यशोदा उसे मानकर बलराम आदि पर खीझने लगती हैं और कहती हैं कि मैं तो इसलिये इसे वन भेज देती हूँ कि यह अपना मन बहला आवेगा। किन्तु उसे तुम सब चला कर थका देते हो। इस प्रकार सूर ने यशोदा के हृदय को बहुत ही मृदुल, सरस और सरल दिखलाया है। उनपर कृष्ण की मोहनी का पूरा प्रभाव है।

इसके अनंतर वलराम जी के चरित्र को लिया जा सकता है। यद्यपि इनका भी चरित्र पूर्ण रूप में चित्रित नहीं किया गया, केवल कुछ ही स्थलों में कुछ संकेत दिये गये हैं, जैसे कृष्ण के कथनों से यह सूचित किया गया है कि वलराम हासोपहास-प्रिय, कौतुकी और विनोद-प्रिय हैं। वे कृष्ण को झूठ कहकर भी चिढ़ा देते हैं, यह उनके वाल्य काल का ही चरित्र है। यशोदा भी कहती हैं कि वलराम बहुत चुगली करने वाले हैं और जन्म ही से धूर्त हैं-"सुनहु स्याम बलराम चबाई जनमत ही को धूत"-किन्तु कृष्ण को चिढ़ाते हुये भी वह कृष्ण के प्रिय बन्धु हैं

और कृष्ण के प्रत्येक आवश्यक कार्य में पूरी सहायता देने के लिये तत्पर रहते हैं। वकासुर आदि के वध में वलराम भी कृष्ण के साथ थे। इसी प्रकार कंस-वध में भी उन्होंने आद्योपान्त कृष्ण का पूरा साथ दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि वे कृष्ण के सच्चे-सगे हैं और विपति या आवश्यकता के पक्के साथी हैं। कृष्ण की अन्य शृंगारात्मक लीलाओं में अवश्यमेव वह भाग नहीं लेते क्योंकि वह कृष्ण से बड़े हैं और अपना बड़प्पन रखना भी चाहते हैं। कृष्ण भी वलराम के प्रति अनुज का सा ही सुन्दर स्नेह श्रद्धा के साथ रखते हैं।

इन पात्रों से अतिरिक्त कृष्ण-काव्य में दो पात्र और भी विशेषता रखते हैं। उनमें से एक तो हैं अक्रूर, जो कंस के द्वारा भेजे जाकर श्री कृष्ण और बलराम को मथुरा ले गये थे। गोपिकायें अक्रूर के प्रति अप्रसन्नता प्रगट करती हैं, क्योंकि कृष्ण-वियोग के कारण वे ही हैं और उद्धव से वे कहती भी हैं कि वे तो हमारा सुख-मूल ले गये, अब क्या आप व्याज लेने के लिये आये हैं। इससे अधिक और कोई विशेष चरित्र, चित्र अक्रूर का नहीं आता।

अक्रूर के पश्चात उद्धव का उल्लेख किया जाता है। उद्धव कृष्ण के घनिष्ट मित्र हैं और ब्रह्म-ज्ञानी तथा योगी हैं। कृष्ण ने उन्हें इसलिये ब्रज भेजा था जिससे उनके ज्ञान का गर्व दूर हो जाय। यद्यपि कहा उनसे यह था कि आप हमारा सन्देश ब्रज-वासियों को देकर उन्हें सान्त्वना दे आवें और उन्हें धैर्य बँधा आवें कि हम शीघ्र ही ब्रज पहुँचेंगे। ब्रज-वासी नन्द, जशोदा, राधिका तथा अन्य-गोपिकायें सभी बहुत दुखी होंगीं। उनका हमें भी स्मर्ण बहुत आता और उनसे प्रथक होने का दुख है। उद्धव ब्रज इसीलिये जाते हैं किन्तु वहाँ ब्रज-वासियों की कृष्ण-भक्ति और उसके कारण कृष्ण-वियोग-जन्य उनकी विकलता को देखकर पहले तो उन्हें वे कुछ ज्ञान और योग का उपदेश

करते हैं, किन्तु गोपिकायों के उत्तर-प्रत्युत्तरों से प्रभावित होते हुए उनकी कृष्ण-भक्ति की भागीरथी में स्वयमेव निमग्न हो जाते हैं और गोपिकाओं को कृष्ण-भक्ति के लिये अपना गुरु सा मान कर बहुत आदर और श्रद्धा देते हैं।

यह सारा प्रसंग 'भ्रमर-गीत' के नाम से प्रसिद्ध है । इससे यह स्पष्ट है कि उद्धव यद्यपि ज्ञानी, विरागी और योगी हैं, तथापि भावुक और सहृदय भी हैं किन्तु उनकी भावुकता और सहृदयता, योग और विराग के भीतर दबी हुई थी और उनके ब्रह्म-ज्ञान के कारण उनकी भावना-वृत्ति प्रबल न हो पाती थी। उन्हें कोई भी ऐसा व्यक्ति न मिला था जो उन पर अपनी प्रेमाभक्ति-का ऐसा प्रभाव डाल सकता कि उनकी भावना वृति में जागृति और स्फूर्ति आ जाती। इसीलिये भगवान कृष्ण के साथ रहते हुए भी, उनको अपना मित्र मानकर वे उनसे भक्ति आदि का उपदेश न ले ही सकते थे और न उन पर कृष्ण के उपदेश का गहरा प्रभाव ही पड़ सकता था। साथ ही कृष्ण स्वयमेव योगेश्वर और ज्ञान-मूर्ति हैं, वे भक्तों के सेव्य तो हैं किन्तु स्वयमेव किसी के भक्त नहीं, इसीलिये वे भक्ति करने के मर्म को विशेष रूप में जानते भी नहीं, इसी-लिये उन्होंने उद्धव को ब्रज में भेजा था, क्योंकि ब्रज-वालायें भक्ति और प्रेम की पुनीत गंगा में निमग्न रहतीं थीं। इसलिए उनका प्रभाव उद्धव पर ऐसा पड़ा कि वे कृष्ण के मित्र न रहकर न केवल उनके ही भक्त हो गये वरन् गोपिकाओं के भी भक्त हो गये। इससे उद्धव की गुण-ग्राहकता का भी परिचय प्राप्त होता है।

गोपिकायें उनके मत का खण्डन करती हैं और उनपर अपने व्यंग-बाणों का भी प्रहार करती हैं, किन्तु वे अपनी सहज सहन-शीलता और उदार क्षमता से उनके प्रति कोई अन्यथा भाव नहीं रखते, वरन् उन्हें कृष्ण की प्रियायें समझ कर बड़े आदर और सहृदयता से देखते हैं।

इस प्रकार वे अपनी धीरता, गम्भीरता और व्यवहार-कुशलता का पूरा परिचय देते हैं, साथ ही अपनी सुन्दर साधुता भी प्रकट करते हैं। ब्रज से मथुरा लौट कर वे कृष्ण को बहुत-कुछ कहते-सुनते हैं और गोपिकाओं को वियोग-व्यथित करने को अनुचित ठहराते हैं। इस प्रसंग से यह भी व्यंजित किया गया है कि ज्ञान और भक्ति में भेद नहीं, ज्ञान भक्ति से ही निखरता है। दोनों का सामंजस्य ही अलौकिक आनन्द का देने वाला है। प्रश्न हो सकता है कि गोपिकाओं में कहाँ ज्ञान था, इसके उत्तर में कह सकते हैं कि गोपिकाओं में ज्ञान बहुत बड़ी मात्रा में था। वे ज्ञानावधि की प्रतियायें थीं, उनके साथ रहते हुए उनमें अज्ञान कैसे रह सकता था।

एक पात्र और भी अपनी महत्ता और सत्ता रखता है और वह है कुब्जा नामक दासिका। इसमें पूर्ण भगवद-भक्ति और प्रभु-प्रेम है, जिसे देखकर ही भगवान ने उसे अपनाया। यद्यपि गोपिकायें कुब्जा के प्रति कभी कभी कुछ ईर्षाद्वेष और सपत्नीक-भाव सा प्रकट करती हैं और उद्धव से उलाहने भी देती हैं, किन्तु कुब्जा में इस प्रकार के कोई भाव नहीं दिखलाये गये। उसे तो भगवद्-भक्ति ही इष्ट है और वह उसमें सफल भी हुई। इसलिये वह नितान्त शान्त और प्रसन्न है। दासिका होकर वह प्रथम ही से दासी-वृत्ति और दासी-भावना रखती है, ऐसी दशा में उसके मन में अनीप्सित भाव आ नहीं सकते। इसी कुब्जा को कूबरी के नाम से भी लिखा गया है। उसकी कुब्जता भगवान श्री कृष्ण के चरण-स्पर्श से ही दूर हो गयी अर्थात् उसका स्वभाव जन्य दोष दूर हो गया और वह सब प्रकार सुन्दर और निर्दोष हो गयी थी।

इन पात्रों से अतिरिक्त कंस और दूसरे असुरों मुष्ठिक, चारुण आदि मल्लों का भी उल्लेख कृष्ण-काव्य में हुआ है, किन्तु उनके चरित्र

विशेष रूप में रंग-रंजित नहीं किये गये। यह अवश्यमेव बल-पूर्वक दिखलाया गया है कि कंस एक नृशंस नृप था, उसकी अनीति से प्रजा त्रस्त थी। इसी प्रकार का एक दूसरा नृप जरासन्ध था, उसे भी कृष्ण ने मारा था। वसुदेव और देवकी कंस के बहनोई और बहन थे। नभ-वाणी के द्वारा कंस को जब यह ज्ञात हुआ कि देवकी के अष्टम गर्भ से उसके घातक शत्रु का जन्म होगा, तभी से वह सशंकित और भय-भीत होकर वसुदेव और देवकी को काराग्रह में रखता था, और नारद के उपदेश से उनके सात पुत्रों का वध कर दिया। कृष्ण के अवतीर्ण होने पर उसने शत्रु-भाव से कृष्ण का प्रतिक्षण चिन्तवन किया करता था, इसी से भगवान ने उसे मार कर सद्गति दी। उसके पक्ष के अन्य असुर पूतना, अघासुर, बकासुर, चाँडूर मुष्टिक आदि वास्तव में मायावी और वीर थे और कंस की आज्ञा से कृष्ण को मारने के प्रयास में स्वतः मृत्यु को प्राप्त हुये। बस इतना ही इनके विषय में कहा गया है और इनके पूरे चरित्र के चित्र को छोड़ दिया गया है।

निष्कर्ष-रूप में कहना चाहिये कि सूर ने जिन चरित्रों का चित्रण किया है उनपर धार्मिक और चारित्रिक दोनों विचारों से लेखनी चलायी है। औचित्य और अनौचित्य का पूरा ध्यान रक्खा है। भक्ति भावना का रंग सर्वत्र ही न्यूनाधिक रूप में अवश्यमेव मिलता है।

सूर की भाषा और शैली

सूर ने अपना सारा काव्य व्रज-भाषा में ही रचा और उसका कारण भी है। ब्रज-प्रान्त में सूर ने आकर स्वामी वल्लभाचार्य से दीक्षा ली थी और एक प्रकार से क्षेत्र-सन्यास लेकर वे निरन्तर वहीं रहे। ब्रज-प्रान्त भगवान कृष्ण की लीला-भूमि है। इसलिये कृष्ण-लीला का वर्णन यदि उसी प्रान्त की भाषा में हो, वह स्वाभाविकता प्रगट करता है। साथ ही व्रजभाषा में स्वाभाविक सरलता, सुकुमारता और मधुरता है। सूर ही सबसे प्रथम ऐसे कवि हैं, जिन्होंने विस्तृत हिन्दी-काव्य की रचना की है।

सूर-काव्य की भाषा के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर से पूर्व भी व्रज-भाषा का प्रयोग काव्य-साहित्य में होता था और उसमें साहित्योचित क्षमता बहुत-कुछ आ गयी थी। सूर की रचना व्रजभाषा के जिस रूप में हुई है वह रूप व्रज की बोली से पृथक है। वह परिष्कृत और परिमार्जित है। यदि यह माना जाय कि सूर ब्रजभाषा के प्रथम कवि हैं तब यह कहना पड़ेगा कि भाषा के प्रयोग में सूरदास को अप्रतिभ सफलता मिली है और उन्होंने भाषा को बड़ी चारुता से ऐसा चमकाया है कि उसकी काव्योचित क्षमता सर्वथा सर्वमान्य और निर्धारित हो गयी।

यद्यपि सूर की भाषा साहित्योत्कर्ष रखती है तथापि इसमें साधारण बोली की सी स्वाभाविकता, सरलता, और सुबोधता पूरी मात्रा में है। सबसे बड़ी विशेषता तो उसकी यह है कि उसमें संस्कृत के तत्सम शब्द बहुत ही अल्प संख्या में आये हैं। यदि संस्कृत के शब्द लिये भी

गये हैं तो प्रायः तद्भव और देशज रूपों में ही ऐसा करने से सूर की भाषा में साधारण बोली का सा रसास्वाद मिलता है। यद्यपि सूर ने अपने काव्य को भागवत पर ही विशेष रूप से समाधारित किया है और सभी प्रमुख भाव उसी से लिये हैं। साथ ही उन भावों को चमत्कृत और चारु रूपों में सुव्यक्त करने के विधानों के रूपों और अलंकारों के प्रयोगों को भी उन्होंने प्रायः भागवत पर ही समाधारित रक्खा है तथापि उनपर अपनी मौलिकता की भी छाप बहुत स्पष्ट और सुन्दर ढंग से लगायी है। चूँकि समस्त काव्य में उन्होंने शान्त और शृंगार रस को ही प्रधानता दी है, इसलिये उनकी भाषा में कोमल-कान्त पदावली सर्वत्र ही पायी जाती है। उनकी रचना साधारणतया दो प्रकार की है, एक तो चित्रोपमता लिये हुए है और दूसरी में भाव-गम्यता है। चित्रोपम वर्णनों में समूर्त शब्दों का ही प्रयोग किया गया है, जिसके कारण पदों के पढ़ते ही मन में तदनुकूल विचित्र चित्र चित्रित होते जाते हैं। भावात्मक पदों में स्वभावतः उन्होंने भाव-व्यंजक और राग-रस रंजक, व्यंजना वलित और ललित अमूर्त शब्दों का ही प्रयोग किया है। साथ ही इस कौशल के साथ ऐसे भावात्मक शब्द रक्खे हैं कि उनके द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव-चित्र मन में भावना के साथ ही चित्रित हो जाता है।

भाषा व्याकरणों के नियमों से सर्वथा नियंत्रित, संयत और प्राञ्जल है। उसमें कहीं पर भी दूरान्वय दोष जैसे दूषण नहीं पाये जाते, साथ ही भाषा प्रयोग में उन्होंने अपने कवि-स्वातंत्र्य को भी प्रगट किया है, और "निरंकुशाः कवयः" की उक्ति को भी चरितार्थ किया है अर्थात् कतिपय स्थानों में कारकों और समासों का बड़ा ही विलक्षण और विचक्षण प्रयोग उन्होंने किया है। स्थान-लाघव से यहाँ उदाहरण विशेष नहीं दिये जा रहे। एक और विशेषताः बड़ी उनकी भाषा में यह भी है कि उसमें सामासिक पदावली का बहुत ही कम

प्रयोग किया गया है और यदि सामासिक पद रक्खे भी गये हैं तो अल्पाकार वाले। समास के आधार पर ही उन्होंने पदावली और वाक्यविन्यास को विशेष अर्थ-व्यंजक बनाने का सफल प्रयत्न किया है। इसकी ओर ध्यान न देकर आलोचक और पाठक प्रायः उनके पदों से अर्थ के स्थान पर अनर्थ ले लेते हैं, कितने ही पद इसके उदाहरण में उल्लिखित किये जा सकते हैं।

भाषागत शब्द-विन्यास और वाक्य-विन्यास में यथार्थता और स्वाभाविकता के भी लाने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है। शब्द-मैत्री और वर्ण-मैत्री का तो यथोचित निर्वाह सूर की समस्त रचना में मिलता है। दृष्ट-कूटों में सूर की भाषा और पदावली अवश्यमेव कुछ जटिल और गहन हो गयी है। दृष्ट-कूट का उद्देश्य ही है जटिलता और गूढ़ता का उपस्थित करना, इसलिये कूटों में जटिल भाषा का प्रयोग करना सर्वथा समीचीन है।

शास्त्रीय दृष्टि से उनकी भाषा में प्रसाद, माधुर्य, लालित्य, और कान्त जैसे सुन्दर गुण पाये जाते हैं। विशेष बात तो यह है कि प्रसाद गुण के साथ ही साथ उनकी भाषा में गूढ़ भाव-व्यंजकता भी बड़े सराहनीय और सुन्दर ढंग में है। कदाचित ही कहीं संयुक्त वर्णों का प्रयोग किया गया है। सूर ने इन्हें बहुत बचाया है क्योंकि संयुक्त वर्णों के कारण मधुरता और सुकुमारता को बहुत बड़ा आघात सा पहुँचता है। कहना चाहिये कि उपनागरिका और कोमलावृत्ति का उनकी काव्य-भाषा में सर्वत्र प्राधान्य है। कहीं कहीं तो ठेठ ब्रज-बोली के शब्दों का भी प्रयोग कर दिया गया है, नहीं तो प्रायः सर्वत्र शब्द-संगठन ऐसा ही है जो किसी भी हिन्दी-काव्य-प्रेमी के लिये सर्वथा सुबोध ही ठहरता है। विशेषणों और विशेष्यों का प्रयोग प्रायः साभिप्राय और सहेतुक है।

ब्रज-भाषा के प्राय: सभी कवियों पर सूर की भाषा का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। चूँकि सूर की समस्त रचना पूर्णतया प्राप्त नहीं होती और जो कुछ भी रचना मिलती है उसके विषय में इस बात का भी सन्देह है कि उसमें से बहुत सा अंश प्रक्षिप्त है, इसलिये भाषा में अनेक-रूपता का गहरा प्रभाव है, इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि सूर ने अपनी रचनायें स्वयमेव न लिखीं थी, वरन् वे पद दूसरों के द्वारा संग्रहीत हुए। साथ ही गायकों में उनका बहुत अधिक प्रचार रहा। स्त्री-समाज में भी वे पैठ और बैठ गये, इसलिये भाषा में विविध-रूपता स्वभावत: आ गयी। कहीं कहीं इसी कारण अन्य प्रांतीय भाषा प्रयोग भी देखे जाते हैं।

सामासिक पदावली जहाँ कहीं भी आयी है, इसी रूप में आयी है कि समास-संयुक्त पद की व्याख्या कई प्रकार से की जा सकती है और समासों में अन्तर किया जा सकता है। ऐसा करते हुये भी मूल भाव को किसी प्रकार भी क्षति पहुँचना तो दूर रहा उसे और अधिक उत्कर्ष ही प्राप्त होता है और अलंकारों में भी चमत्कार-चातुर्य-चारुतामयी विशेषता आ जाती है।

सबसे बड़ी विशेषता तो सूर के शब्द-प्रयोग में यह है कि सूर की इच्छा में अनुसार अर्थ देने में वे समर्थ होते हैं। शब्दों से मनोनीत अर्थ के लेने के लिये सूर ने कोई बड़ी विशेष विधि का प्रयोग नहीं किया, वरन् उनका प्रयोग ऐसा किया है कि वे वलात् उनके अभीष्ट अर्थ को व्यक्त करने में बाध्य होते हैं। लाक्षणिक और व्यंजक प्रयोगों से अतिरिक्त अविधा-मूलक शब्द भी गहरी विशेषतायें रखते हुये विशेष अर्थ व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

जा दिन मन पंछी उड़ जैहे।१।

× × ×

हमारे प्रभु अवगुन चित न धरौ ।२।—

× × ×

सोइ रसना जो हरि-गुन गावै ।३।

× × ×

अविगत गति कछु कहत न आवै ।।४।।

× × ×

ऊधौ मन नाहीं दस-बीस ।।५।।—माई री सुन्दरता कौ भानु
प्रभु जी की आरती बनी ।।६।। सखी इन नैननि सौं घन हारे ।
खंजन-नैन रूप-रस माते ।

× × ×

निगुरन कौन देस कौ बासी ।।७।। जोग ठगौरी ब्रज न बिकै है ।।८।।

× × ×

'कहीं कहीं तो बहुत ही स्वतंत्र प्रयोग सर्वनामों के किये गये हैं और कहीं कहीं सम्बन्ध कारक से युक्त सर्वनाम आदिकों का विशेषणवत ऐसा प्रयोग किया गया है कि वे दो भिन्न शब्दों के साथ में अन्वित होकर अर्थान्तर अथवा तात्पर्यान्तर प्रगट करते हैं—"जैसे हमारे प्रभु अवगुन चित न धरौ" । यहाँ सम्बन्ध वाचक हमारे पद को प्रभु और अवगुण दोनों के साथ अन्वित किया जा सकता है । प्रायः अवगुण को साथ में ही लेकर लोग अर्थ करते हैं । इसी प्रकार कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं । कहीं कहीं कारकों की विभक्तियों का विलक्षणता के साथ लोप किया गया है और कहीं कहीं किसी कारक के स्थान पर किसी दूसरे कारक का प्रयोग करते हुये विशेष रूप से विशेष अर्थ लिया गया है, किन्तु ऐसा करते हुये भी कहीं किसी भी प्रकार का कोई अनर्थ नहीं उपस्थित होता । इसीलिये यह कह सकते हैं कि सूर

का भाषा पर पूरा अधिकार सा है, वे शब्दों के अनुयायी नहीं वरन् शब्द उनके अनुयायी होकर अभीष्ट कार्य करते हैं, शब्दों पर उनका पूरा आधिपत्य सा है।

निष्कर्ष-रूप में अब कहना चाहिये कि सूरदास ने ब्रज-भाषा का ऐसा सुन्दर, सच्चा और सार्थक प्रयोग किया है कि उनकी भाषा को भाषा-परीक्षा के लिये एक निश्चित भाव की कसौटी पर रख, परख सकते हैं। भाषा के प्रयोग में यह और एक सराहनीय बात देखी जाती है कि गूढ़ से गूढ़ भावों को व्यक्त करने के लिये भी सूर ने सरल, सुबोध और साधारण शब्दों का ही सहारा लिया है। दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों को भी व्यक्त करने में दर्शन-शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों अथवा पदों को यथासाध्य उन्होंने बहुत ही कम प्रयुक्त किया है और सर्व-साधारण में सुप्रचलित तथा सुरिचित सुन्दर शब्दों से ही पारिभाषिक शब्दों के भावों के व्यक्त करने का कार्य ले लिया है।

शैली

कुछ विद्वानों का यह मत है कि काव्य की आत्मा वास्तव में रीति है और रीति पदों की विशिष्ट रचना को कहते हैं, अर्थात् जिसे आज कल शैली कहा जाता है, काव्य-शास्त्र के विचार से वही रचना-विधि है और उसी का नाम रचना-रीति है। हिन्दी के कुछ इतिहासकारों ने रीति शब्द को काव्य-शास्त्र के नियमों के अर्थ में भी लेकर भक्ति-काल के पश्चात आने वाले काल का नाम रीति-काल रक्खा है और इस प्रकार रीति शब्द का प्रयोग उन्होंने नियम के अर्थ में किया है।

शैली के अर्थ में लेकर काव्य में रीति के दो मुख्य स्वरूप ही मिलते हैं और मिल सकते हैं, अर्थात् एक रूप तो रीति का वह है, जिसे छंद-रचना-नियम अथवा छंद-व्यवस्था कह सकते हैं। इस अर्थ को लेकर किसी कवि की रचना-शैली को देखते हुये उसके द्वारा प्रयुक्त की गयी

छन्द-व्यवस्था का विचार किया जाता है। इस दृष्टि से सूर का काव्य दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, एक भाग तो गीतात्मक है और दूसरा साहित्यक छंदात्मक है। इन्हीं के साथ तीसरा स्वरूप दोनों के सुन्दर सम्मिश्रण से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् सुगेय छन्दों के सम्मिश्रण करने और एक टेक के लगाने से एक गीतात्मक पद बन जाता है। प्रायः केवल कथा-वस्तु के प्रसंग में छंदात्मक शैली को विशेषता और प्रधानता दी गयी है, किन्तु भावात्मक प्रसंग में गीत की रचना-रीति अथवा संगीतात्मक रचना को प्रधानता देकर रक्खा गया है और ऐसे प्रसंगों में जहाँ भावनोत्तेजक अथवा भावनोद्दीपक प्रसंग में घटना के चित्रण को आवश्यकता या अनिवार्यता देखकर रखना पड़ा है, वहाँ मिश्रित शैली का प्रयोग किया गया है।

सूरदास के पद लगभग वही कार्य करते हैं जो उर्दू की कविता में ग़ज़ल के द्वारा लिया जाता है। अन्तर यह है कि ग़ज़ल में आनेवाली पंक्तियाँ अथवा शेर बहुत-कुछ पूरे स्वच्छंद और अपने में ही पूर्ण रहते हैं और दो दो पक्तियों के शेर परस्पर कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखते। किन्तु सूरदास के पदों में ऐसा नहीं पाया जाता वरन् पदगत समस्त पक्तियाँ एक मुख्य भाव या विचार से अनिवार्य सम्बन्ध रखती हुई एक दूसरे से पूरा सम्बन्ध रखतीं और एक दूसरे को सहायता देती हुई मूल भाव को उत्कर्ष प्रदान करती हैं। सूरदास के पद इस विचार से इस प्रकार विभक्त किये जा सकते हैं, प्रथम तो ऐसे पद हैं जिनमें, जो टेक के रूप में पहले पद रक्खा गया है, उस पद में मुख्य भाव अथवा विचार संकुचित और संक्षेप रूप में रहता है, उसी भाव को पद की दूसरी सब पँक्तियाँ विकसित और परिपुष्ट करती हैं। साथ ही सब पँक्तियों के तुक टेक के तुक के समान सानुप्रासिक रहते हैं। दूसरे प्रकार के वे पद हैं, जिनमें टेक गत-भाव और तुक के साथ पद की प्राथमिक पंक्ति का ही सम्बन्ध रहता है, शेष अन्य पंक्तियाँ उस भाव से कुछ दूर

का सम्बन्ध रखती हैं। हाँ सर्वथा प्रथक नहीं रहती और दृष्टान्त अथवा उदाहरण के द्वारा टेक के सामान्य या विशेष भाव को विशेषता अथवा सामान्यता से परिपुष्ट करती हैं। इन अवशिष्ट पंक्तियों के तुक टेक के तुक से भिन्न भी रहते हैं। हाँ तीसरे प्रकार के वे पद हैं, जिनमें टेक-गत विचार के साथ पद की पँक्तियों में आने वाले विचार केवल साहचर्य और सहयोग सम्बन्ध ही रखते हैं, वैसे वे रहते उससे सर्वथा प्रथक ही से हैं। जैसे—

१—देख्यो एक अनूपम बाग—२—जेवत स्याम नन्द की कनियाँ—
३—मैया मैं नहिं माखन खायो।

× × ×

चौथे प्रकार के वे पद हैं, जिनमें टेक-गत भाव या विचार की अपेक्षा पद की पंक्तियों में उस विचार के विकासक अन्य विचार दिये जाते हैं। पाँचवें प्रकार के वे पद हैं, जिनमें टेक-गत विचार पद की पँक्तियों के विचारों के सहायक होकर उन्हें स्पष्ट करता या परिपुष्ट बनाता हैं। छठवें प्रकार के वे पद हैं, जिनमें टेक-गत विचार को अन्य पंक्तियों में रूपक आदि अलंकारों के द्वारा विविध प्रकार से स्पष्ट किया जाता और बल दिया जाता है। सातवें प्रकार के वे पद हैं, जिनमें टेक पंक्ति और पदों की अन्य पँक्तियाँ सब तात्पर्य तो एक ही रखती हैं किन्तु अर्थ अपने अपने पृथक पृथक रखती हैं।

इस प्रकार सूर ने पदों की रचना में अपनी विचक्षण और विलक्षण मौलिकता दिखलायी है। जहाँ पर कुछ सम्वाद रक्खा गया है, सूर ने वहाँ प्रत्येक व्यक्ति के मुख से एक स्वतंत्र पद कहलाया है। कहीं कहीं एक ही पद में दो व्यक्तियों के भी उत्तर-प्रत्युत्तर अथवा कथन और उप-कथन भी रक्खे हैं। जैसे-"मैया मोहि दाऊ बहुत

खिझायो" । इस पद में पहले तो कृष्ण बलराम की शिकायत करते हुए कहते हैं, किन्तु अन्त में उन्हें सान्त्वना देती हुई यशोदा बोलने लगती हैं ।

संकेत-रूप में यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि तुकों की दृष्टि से तीन मुख्य प्रकार के पद सूर की रचना में मिलते हैं। प्रथम तो वे पद हैं, जिनमें टेक से लेकर पद की अन्तिम पँक्ति तक सर्वत्र तुक-साम्य रहता है। द्वितीय प्रकार के वे पद हैं, जिनमें टेक-गत तुक का साम्य पद की प्रथम पँक्ति के तुक के साथ रहता है और कभी कभी पद की अन्तिम पँक्ति के तुक के साथ भी किन्तु मध्य की अन्य पँक्तियों के तुक दूसरे से विलग अथवा भिन्न होते हैं । तीसरे प्रकार के पद वे हैं, जिनमें टेक-गत तुक का निर्वाह पद में नहीं किया जाता,वरन् पद की पँक्तियों में दूसरा तुक निवाहा जाता है। इसी का एक प्रकार यह भी है जिसमें टेक के तुक को छोड़ कर पद की अन्य पँक्तियों में पद के पंक्ति-युग्मों में भी पृथक पृथक या भिन्न-भिन्न तुक रक्खे जाते हैं। सारांश यह है कि सूर ने पद-रचना-शैली में अपनी शब्दात्मक और अर्थात्मक विशेषतायें ऐसे चारु चमत्कृत ढंग से रक्खी हैं कि वे सूर की सराहनीय मौलिकता को स्पष्ट रूप से प्रगट करती हैं। सूर की रचना-शैली की इस विशेषता की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। इन विशेषताओं के विशेष प्रयोजन भी हैं।

शैली का दूसरा भाव-प्रकाशन-रीति अथवा ढंग या विधि से सम्बन्ध रखता है। प्रायः काव्य में दो प्रकार की रीतियों से भाव या विचार का अभिव्यक्तीकरण होता है। प्रथम रीति को तो अलंकृत शैली कह सकते हैं। इस शैली में एक मुख्य भाव अथवा भावना ले ली जाती है, और उसे रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा, आदि अलंकारों के द्वारा स्पष्ट रूप से विकसित या परिवर्धित और उत्कृष्ट तथा पुष्ट किया जाता है।

अलंकारों का प्रयोग इस शैली में इसी प्रमुख प्रयोजन से ही होता है। प्रायः इस शैली का उपयोग काव्य में उसी स्थल या प्रसंग में किया जाता है, जहाँ बिना अलंकार के अभीष्ट भाव या भावना और किसी भी अन्य प्रकार से यथेष्ट रूप में अथवा अभीष्ट व्यंजकता के साथ व्यक्त नहीं की जा सकती। इस शैली के प्रयोग में कवि को बहुत अधिक सतर्कता और सावधानी रखनी पड़ती है, और अभीष्ट भाव की अभिव्यक्ति के लिये यथोचित, उपयुक्त और उपादेय अलंकार चुनने पड़ते हैं। इसमें अलंकारों का प्रयोग केवल भाषा की सजावट के लिये ही नहीं होता वरन एक विशेष प्रकार की आवश्यकता के कारण ही उनका प्रयोग किया जाता है, और यदि उन अलंकारों का वैसा वहाँ प्रयोग न किया जाय, तो अभीष्ट भाव अभीष्ट रूप में और किसी भी प्रकार सुव्यक्त नहीं किया जा सकता। इस बात को बिना समझे प्रायः ऐसी शैली को काव्य-सौन्दर्योत्कर्षक या भाषा व्यवस्था-विधि के ही रूप में माना जाता है।

दूसरे प्रकार की शैली वह है, जिसमें स्वाभाविकता रहती है और वास्तविकता ही को प्रधानता दी जाती है, तथा साधारण रूप में मनोगत भावों या भावनाओं को प्राकृतिक क्रम और यथार्थता के विचार से साधारण भाषा में रख दिया जाता है। इस शैली में प्रायः स्वभावोक्ति ही प्रधान रहती है। कभी कभी इस स्वभावोक्ति को भी चारु चातुर्य के साथ विचक्षण और विलक्षण व्यंजना से वलित करते हुए और भी ललित बना दिया जाता है। इन्हीं के साथ कभी कभी अनलंकृत शैली का भी रम्य रूप देखा जाता है और यह प्रायः किसी कथा-वस्तु के केवल कथन में ही रहता है, अथवा केवल भावनाओं को स्पष्ट करने में भी इसका प्रयोग किया जाता है। इसमें शब्दालंकार, जैसे अनुप्रास आदि ही, जिनका सम्बन्ध केवल शब्दों के ऊपरी रूप से ही है, प्रायः आते या आ सकते हैं और अर्थ, चमत्कार से सम्बन्ध रखने

वाले अलंकार प्रायः शून्य ही से रहते हैं। सूरदास ने अपने पदों में इन तीनों हो प्रकार की शैलियों का बड़ा ही कला-कौशल-पूर्ण और सुन्दर सराहनीय उपयोग किया है। कितने ही उदाहरण पाठकों को इसे समझ कर ध्यान में रखने से सूर में मिल सकते हैं।

इनसे अतिरिक्त सूरदास ने अपनी रचना में भाव-प्रकाशन की तीन और प्रमुख रम्य रीतियों का प्रयोग किया है। प्रथम रुचिर रीति तो यह है, जिसमें भावों और भावनाओं की अभिव्यक्ति सरसता, सरलता और सुबोधता के साथ की गयी है।

खंजन-नैन रूप-रस-माते ॥१॥

× × ×

अविगत गति कछु कहत न आवै ॥२॥ (अनलंकृत शैली)

× × ×

दूसरी रुचिर रीति वह है जिसमें काव्योत्कर्ष का विचार रखते हुए सार्थक अलंकार-योजना से पूरी सहायता लेकर विचारों और भाव-भावनाओं को विकसित और प्रगट किया गया है।

दिवस सिराने अटके अटके ॥१॥

× × ×

सखी री मुरली लीजै चोरि ॥२॥

× × ×

तीसरी वह रीति है, जिसमें दुर्बोधता और जटिलता के साथ भाव को छिपाकर ऐसा रक्खा गया है कि वह तनिक परिश्रम के पश्चात् स्पष्ट हो पाता है। इस शैली का उपयोग सूर ने विशेषतया कूट-काव्य में किया है। इसका एक विशेष रूप वह भी है, जिसमें कुछ अलंकारों

को कूट के साथ ऐसा मिलाया गया है कि दोनों मिलकर अलंकृत कूट को उत्पन्न करते हुये भाव को गुप्तागुप्त कर रखते हैं। जैसे—"देख्यो एक अनूपम बाग" और "कहौ कोऊ परदेसिन की बात"। बचन-वक्रता और वक्रोक्ति (उक्ति-वैचित्र्य) से भी सूर ने अपने भावाभिव्यंजन को परिष्कृत किया है, किन्तु किया है ऐसा, केवल ऐसे ही स्थलों पर जहाँ उक्ति-वैचित्र्य की वस्तुतः आवश्यकता है और उसके द्वारा ही अभीष्ट भाव और भावना चारु-चमत्कृत होती हुई अधिक प्रभाव-पूर्णता के साथ व्यक्त किये जाने की आवश्यकता रखती है, अन्यथा जहाँ केवल भावनाओं की तीव्रता के ही प्रकाशित करने का प्रयोजन है, वहाँ प्रायः सामान्योक्ति अथवा स्वभावोक्ति के साथ ही-भाव व्यक्त किये गये हैं। प्रायः भावनोद्दीपक अथवा भावोत्तेजक अलंकारों से ही सहायता ली गयी है। कूट-काव्य में भले ही सूर ने जटिलता को प्रधानता देकर घुमाव-फिराव और चक्कर-मक्कर के साथ शब्द-विन्यास रखते हुये भाव को गुप्तागुप्त रूप में रक्खा है।

इन्हीं के साथ सूर ने अपनी शैली में चित्रोपमता का भी समावेश करते हुये वस्तु-चित्र और भाव-चित्र भी उपस्थित किये हैं। भावनाओं को व्यक्त करने में सूर ने उनके साधारण स्वरूप को तो बहुत ही कम लिया है, वरन् अपना कौशल ही विशेष रूप में प्रगट किया है, वह भी कतिपय साहचर्य, सहयोग सम्बन्धी अथवा परस्पर विरोधी भावनाओं के मिश्रण में, यह भी एक बहुत सराहनीय कला-कौशल सूर का है कि वह भाव-पक्ष के साथ कला-पक्ष को भी ऐसे रंग-ढंग से रखते हैं कि दोनों में से किसी को भी एक दूसरे के कारण कोई भी विकार अथवा हानि न प्राप्त हो सके वरन् दोनों एक दूसरे के सहायक से ही रह सकें और उक्ति में स्वाभाविकता और वास्तविकता सी ही प्रगट करते रहें। बात के कहने का ढंग सर्वत्र ही सूर का एक ऐसी विशेषता रखता है, जिसके कारण बात और उसके कहने का ढंग दोनों ही साधारण और सामान्य

होते हुये भी विशेषता प्रगट करते हैं। ग्रामोचित होकर भी वह नगरोचित और नगरोचित होकर भी वह ग्रामोचित रहते हैं, अर्थात् उक्ति में न तो ग्राम्यदोष ही है और न चित्रण में भद्दी ग्रामीणता का आभास ही है और न नागरिकता की कृत्तिमता और कला-कुतूहलता ही रहती है, वरन् दोनों का विचक्षण और विलक्षण समन्वय ही सर्वत्र प्राप्त होता है।

सारांश यह है कि सूरदास जी भाषा और शैली दोनों ही पर अपना पूरा अधिकार रखते हैं और स्वेच्छानुसार ही उन्हें चलाने में समर्थ हुए हैं। प्रमुख प्रशंसनीय बात तो यह है, कि उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा से ही इस विलक्षण रचना-कला-कौशल को अनुकरणीय रूप में विचक्षणता से उपस्थित किया है। उन्होंने किसी का भी पूरा अनुकरण नहीं किया, वस्तुतः उनसे पूर्व इस रूप में ऐसा गीत-काव्य किसी ने भी इस प्रकार न लिखा था। कविवर विद्यापति ने संस्कृत के गीत-गोविन्द नामक प्रसिद्ध गीतकाव्य के सिद्ध-उदाहरण को सामने रखकर लोक-गीतों के रूप में कृष्ण-सम्बन्धी गीत-काव्य लिखा था अवश्य, किन्तु सूर ने उससे कोई भी विशेष सहायता नहीं ली। भाव और भावनायें तो उन्हें भले ही भागवत से मूल रूप में मिली हों, किन्तु उनकी अभिव्यक्ति-रीति उन्हें कहीं से भी न मिली थी और यह रम्य रीति उनकी प्रतिभा की ही नवोद्भावना थी। सूरदास को पथ-प्रदर्शक के रूप में कितने ही उनके समकालीन और परवर्ती कवियों ने अवश्यमेव लिया है। यहाँ तक कि राम-काव्य के अद्वितीय महाकवि महात्मा तुलसीदास ने भी सूर की रचना-रीति से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की थी। इसके लिये सूर को जितना भी साधुवाद दिया जाय और जितनी भी उनकी चाहना और सराहना की जाय उतनी ही कम होगी और उसमें अत्युक्ति का दोष भी न आयेगा।

———

सूर और सूर-काव्य का स्थान

बहुत समय पूर्व से हिन्दी-कवियों में सूर के स्थान को प्रगट करते हुये यह उक्ति प्रचलित रही है।

'सूर सूर' तुलसी ससी;
उड़गन केसव दास,
अब के कवि खद्योत सम
जँह तँह करत प्रकास।

यह उक्ति किसकी है और किस समय की है, किस दृष्टि-कोण से कैसे उपस्थित की गयी है, यह निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता, किन्तु यह अवश्यमेव सत्य है कि यह उक्ति एक प्रकार से समस्त हिन्दी-संसार में सर्व-मान्य ही सी हो गयी, यहाँ तक कि पंडितों और सुयोग्य समालोचकों ने भी इसे ज्यों का त्यों ही स्वीकार कर लिया। आज भी इसी उक्ति के आधार पर सूर का सर्वोच्च स्थान हिन्दी-संसार में निश्चित सा माना जाता है और सूर को प्रथम श्रेणी, तुलसी को द्वितीय और केशव को तृतीय श्रेणी का महाकवि कहा जाता है, किन्तु विचार-पूर्वक देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस उक्ति का वास्तविक तात्पर्य यह नहीं है, वरन् कुछ दूसरा ही है। कुछ विद्वानों ने तो देव को और कुछ ने विहारी को आकाश का उपमान देकर इस उक्ति के चरितार्थ करने का चतुर प्रयोग किया है।

उक्त उक्ति का अर्थ यह है कि सूरदास सूर्य्य के समान, तुलसीदास चन्द्रमा के समान और केशव उड़गन या तारों के समान हैं, अर्थात् तीनों अपनी अपनी विशेषताओं के कारण तीन प्रथक प्रथक श्रेणियों में आते हैं। कान्ति के विचार से उन्हें न्यूनाधिक मानना या कहना सर्वथा

न्याय-संगत नहीं, क्योंकि कितने ही उड़गण ऐसे भी हैं जो सूर्य्य से भी बहुत बड़े हैं, किन्तु वे इतनी दूर हैं, आकाश के इतने गम्भीर गर्भ में हैं कि अधिक प्रकाश के साथ नहीं प्रगट हो पाते। इसी प्रकार केशवदास भी पांडित्य आदि गुणों के कारण विशेष प्रतिभा-प्रतिभात होते हुये भी काव्य-काश की इतनी गम्भीर गोद या गहन क्रोड़ में हैं कि साधारण दृष्टि से तो पूर्णतया देखे नहीं जासकते किन्तु सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र रूपी (Teliscope) विवेक के द्वारा देखे-परेखे जाने पर अपनी विशद् विचक्षण और विलक्षण प्रतिभा-प्रभा प्रगट करते हैं।

साथ ही वास्तव में उक्त उक्ति से मूल तात्पर्य तो यह है कि सूर में सूर्य्य के गुणों, तुलसी में चन्द्र के गुणों और केशव में तारकों के गुणों की प्रधानता है। सूर्य्य का मुख्य गुण तेज और प्रकाश है, जिसके द्वारा वह अन्धकार का विनाश करता है और नये जीवन और नयी स्फूर्ति का विकास करता है। सूर्य्य ही से सुमन विकसित होते हैं और फल परिपक्वता पाते हैं, सूर्य्य का ताप रस-शोषक और रस-द्रावक होकर रस-प्रसारक भी है। यदि ग्रीष्म में वह रस का शोषण करता है तो वर्षा में रस अथवा जल की वर्षा भी कराता है। इसी प्रकार सूर और सूर-काव्य भी हैं और सूर का काव्य सूर्य-प्रकाश सा मोहान्धकार को दूर कर उस परमात्मा का प्रकाशक है, जो ज्ञानालोक-स्वरूप है। यदि संयोग-शृंगार के द्वारा वह सरसता उत्पन्न करता है तो वियोग-शृंगार के द्वारा हृद्गत-भावनाओं को तीव्रता देकर दुख के आतप से हृदय को दह्यमान भी करता है और आनंदाश्रुओं अथवा प्रेमाश्रुओं की वर्षा भी कराता है। साथ ही सुमनों को विकसित कर सुख-रूपी सत्फल को परिपक्व करता है और तेजो-रूप परमात्मा को प्रकाशित कर आत्मा में नव जीवन और नवीन स्फूर्ति भी लाता है।

यदि सूर्य्य के प्रकाश से चन्द्र आदि दूसरे ग्रह, उपग्रह और लोक लोकान्तर प्रकाशित होते हैं तो सूर के गीत-काव्य से भी शशि-स्वरूप

तुलसी दास, नन्द दास, परमानन्दास आदि सुकवि सहायता प्राप्त करते हैं और अपनी प्रतिभा के लिये प्रेरणा पाते हैं। तात्पर्य यह है कि सूरदास का स्थान कवियों में इस प्रकार बहुत ऊँचा है। देखने में भले ही केशव का रूप अन्यसा प्रतीत हो, किन्तु वास्तव में वे काव्याकाश या, साहित्याकाश अथवा विद्या-ब्रह्मांड में इतनी ऊँचाई पर हैं कि उनका पूरा रूप देखा नहीं जा सकता अथवा यदि देखा जा सकता है तो कठिनाई से।

प्राचीन परम्परा के अनुसार कवियों का विभाजन कई प्रकार से किया गया है। प्रथम काव्यांगो की दृष्टि से विभाजन करते हुए प्रथम कोटि वह है जिसमें कवियों की एक श्रेणी ऐसी आती है, जिस की रचना में रस की ही पूरी प्रधानता मिलती है। इस श्रेणी के कवियों को रस सिद्ध कवि कहा गया है। दूसरी श्रेणी उन कवियों की है, जिनकी रचनाओं में रस की अपेक्षा कला-कौतुक-कौशल अथवा-अलंकार-योजना की प्रधानता मिलती है और रसवत्ता कुछ गौण रूप में रहती है, ऐसे कवियों को अलंकार-सिद्ध कवि कहते हैं।

इसी प्रकार तीसरी श्रेणी उन कवियों की है जिनके काव्यों में रसों और अलंकारों की अपेक्षा अर्थ-गौरव और वचन-वैचित्र्य का प्रावल्य रहता है और उनका काव्य ध्वनि-प्रधान अथवा लक्षण-व्यंजना-प्रधान रहता है, साथ ही कथन में चमत्कार और चारु चातुर्य्य रहता है। ऐसे कवियों को उक्ति वैचित्र्य-सिद्ध कवि कहते हैं। इनकी रचनाओं से हृदय तो उतना द्रवीभूत नहीं होता किन्तु मन को विनोदामोद पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है। इन तीन श्रेणियों में से सूरदास जी को किसी एक ही श्रेणी में नहीं रख सकते वरन् उनकी रचनाओं में ही तीनों श्रेणियों के काव्यों की सभी प्रमुख विशेषताओं का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है, अर्थात् उनके काव्य में एक ओर यदि रस की धारा बहती है तो दूसरी ओर अलंकार-योजना भी अपनी सुन्दरता प्रगट करती है और तीसरी ओर

उक्ति-वैचित्र्य तथा अर्थ-गौरव भी उसमें पुष्कलता से पाया जाता है अर्थात् उनकी रचना-सरिता कमलादि कुसुमोपम अलंकारों से सुशोभित होकर मधुर सुधा-शीतलता के साथ संगीत-रूपी माधुरीमयी धीर गंभीर ध्वनि करती हुई गम्भीरता लिये हुए मन्द और मंजुल गति से प्रवाहित होती है।

हिन्दी-कृष्ण-काव्य की परिपाटी के यद्यपि वे प्रवर्तक तो नहीं, क्यों कि उनसे पूर्व विद्यापति ने कृष्ण-काव्य की गीत-शैली में रचना की थी किन्तु ब्रजभाषा में गीत-काव्य वाली कृष्ण-काव्य की जो परम्परा चली उसके वे अवश्यमेव प्रमुख प्रवर्तक हो कर अग्रगण्य हैं। इसी प्रकार गीत-काव्य की पद-रचना-परम्परा के ब्रजभाषा में वे प्रथम प्रशस्त प्रवर्तक हैं। उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त करके अन्य कृष्ण-भक्त कवियों और राम-काव्यकारों में अग्रगण्य तुलसीदास ने गीत काव्य की रचना की। इस विचार से सूर ही गीत-काव्य की परम्परा के प्रधान पथ-प्रदर्शक और प्रशस्त प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। काव्य में संगीत का सुन्दर समावेश कर उन्होंने मणि-कांचन योग को सर्वथा चरितार्थ किया है।

संस्कृत-साहित्य में भी काव्य के साथ संगीत का विविध राग-रस-रंजित, और भाव-व्यंजना-व्यंजित ऐसा सुन्दर समन्वय नहीं मिलता, यद्यपि जयदेव का गीत गोविन्द—गीत-काव्य का एक सिद्ध-प्रसिद्ध और सफल उदाहरण है अवश्य किन्तु उसमें संगीत के प्रमुख रागों को छोड़ सभी विविध राग-रागनियों का समावेश नहीं हो सका। यह कार्य सराहनीय सफलता से सब से प्रथम सूरदास ने ही किया। पद-लालित्य, अर्थ-गौरव और भावनानुभूति तीनों उनके काव्य में सुन्दरता से सन्निहित हैं। इस लिये कहना चाहिये कि सूर कवि-समाज में और उनका काव्य, काव्य-क्षेत्र में उच्च स्थान के लिये सर्वथा अधिकारी है।

कहीं कहीं तो भावनाओं की ऐसी सूक्ष्म रम्य रश्मियाँ उन्होंने खोज कर प्रकाशित की हैं जो अन्य कवियों के द्वारा कदापि

प्रकाशित नहीं की गयीं और यदि की भी गयीं हैं तो उतनी रुचिर रोचकता के साथ नहीं। काव्य में एक नयी भाषा का प्रथम बार प्रशस्त प्रयोग करते हुए उसे पूरी साहित्यिक क्षमता का प्रदान करना कोई साधारण काम नहीं। सूरदास ने ब्रजभाषा को साहित्यिक सौष्ठव देते हुये काव्य-क्षेत्र में इस प्रकार प्रतिष्ठापित किया कि ब्रजभाषा आगे चल कर लगभग समस्त उत्तर भारत की एक मात्र काव्य-भाषा के रूप में मानी-जानी जाकर लगभग ३०० वर्ष तक अपनी महा महत्ता और स्तुत्य सत्ता बनाये रही और आज भी काव्य की वह एक भाषा है। सत्यतः सूरदास जी को इसका सारा श्रेय ही मिलना चाहिये।

संस्कृत-काव्य-क्षेत्र में वर्ण्यवस्तु के विचार से प्रबन्ध और मुक्तक नामक दो मुख्य भेद काव्य के किये गये हैं। प्रबन्ध-काव्य के भी महा काव्य और खण्ड काव्य नामक दो उपभेद हैं। शास्त्रीय विचार से गीत-काव्य को काव्य के प्रमुख भेदों में नहीं लिया गया। सूरदास से पूर्व हिन्दी के क्षेत्र में भी जो जय-काव्य, जिसे वीर-गाथा-काव्य भी कहते हैं, की परम्परा चल रही थी, उसका सम्बन्ध प्रबन्ध-काव्य ही से था। गीत-काव्य के रूप में एक परिपाटी और थी, जिसमें संगीत-पुष्ट सुगेय छन्दों का प्रयोग किया जाता था। अतएव सूरदास ने अपना एक नया मार्ग निकाला और ऐसे कमनीय काव्य की रोचक रचना की, जिसमें प्रबन्ध और मुक्तक नामक काव्य के दोनों भेदों की प्रमुख विशेषतायें सर्वथा सुन्दर रूप में प्राप्त होती हैं।

सूरदास का प्रत्येक पद मंजुल मुक्तक के रुचिर रूप में अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी रखता है और ऐसे पदों की एक मालिका एक कथानक को भी ले चलती हुई प्रबन्ध-काव्य का रुचिर रूप उपस्थित करती है। इसी के साथ यह भी देख लेना चाहिये कि सूरदास ने प्रबन्ध-काव्य की श्रृंखला भी कुछ रूपान्तर के साथ रक्खी है। कदाचित् इसमें उन्हें

कथा-वस्तु से प्रेरणा अथवा सहायता मिली है । कृष्ण का कथनीय कथानक घटनात्मक रूप में ही चलता है अर्थात् उसमें कृष्ण की विविध लीलायें ही सगुंफित की गयी हैं । सूरदास ने भी इसीलिये एक प्रकार का लीला-काव्य ही मुक्तक के रूप में उपस्थित किया है । काव्य के इस रूप के कारण सूर मौलिक रचना-रीति के विचार से हिन्दी क्षेत्र में अपना विशेष स्थान रखते हैं । उनके पश्चात् व्रजभाषा के कृष्ण-काव्य के रमणीय क्षेत्र में भावनात्मक घटना-प्रधान ललाम लीला-काव्य की एक प्रकाम प्रणाली ही ऐसी चलने लगी, जिसमें प्रायः मुक्तक पदों या स्वतंत्र छन्दों के द्वारा एक पूरी प्रबन्ध-शृंखला का भी निपुणता से नव्य निर्माण किया गया ।

इसी के साथ सूर ने काव्य-क्षेत्र में एक और रोचक रचनात्मक विशेषता उपस्थित की और वह इस रूप में कि उन्होंने कहीं कहीं अपने एक पद में एक छोटी सी घटना की कहानी, जो किसी एक भावना विशेष की प्रधानता रखती है, बड़े सरस-सुन्दर रंग-ढंग से रक्खी है । इस शैली को आख्यायिका-काव्य-शैली कह सकते हैं । इस शैली का उपयोग काव्य-क्षेत्र में आगे अन्य कवियों के द्वारा बहुत अधिक किया गया है और एक एक छन्द में एक भावनानुभूति-मूलक घटना-प्रधान एक छोटी कहानी सी कहीं गयी है ।

सूरदास ने अपने काव्य में अंग-प्रत्यंग-वर्णन को भी एक स्वतंत्र वर्ण्य विषय का रम्य रूप देकर इस चतुरता और चारुता से रक्खा है कि आगे चलकर अन्य कवियों ने उसी का अनुकरण करते हुए अंग-प्रत्यंग-वर्णन की एक सुन्दर सरस-स्वतंत्र परिपाटी हीं चला दी । इस विचार से सूरदास को रचना-शैलो का भी एक विशेष प्रवर्तक तथा पथ-प्रदर्शक माना जा सकता है । उनकी इन रचना-शैलियों का प्रचार

केवल पुरुष-समाज में ही नहीं हुआ वरन् स्त्री-लेखिकाओं में भी हुआ है और मीरा जैसी स्त्री-लेखिकाओं ने भी इन सरस शैलियों में रुचि-रंजक रचनायें की हैं। इस प्रकार सूरदास एक आदर्श कवि के रूप में भी माने जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त सूरदास के भाव-ग्रहण करने की विधि से अन्य कवियों को दूसरों से सुन्दर भावों के लेने और उन्हें सुन्दरता के साथ जमाने की भी प्रकाम प्रेरणा प्राप्त हुई है। सूरदास ने भागवत से सुन्दर सुन्दर भाव ग्रहण किये हैं और उन्हें अपने विशेष रंग-ढंग से इस प्रकार व्यक्त किया है कि वे नितांत मौलिक और नवीन से प्रतीत होते हैं "बिहरो सुनै मूक पुनि बोले—इत्यादि" "मूकं करोति वाचालं पगुं लंघयते गिरिम्"। यहाँ मूक का बोलने में समर्थ होना, पंगु का गिरि पर चढ़ने के योग्य होना, हरि-कृपा के कारण ही कहा गया है। सूरदास ने इसी भाव को अपनी ओर से और अधिक रोचक विशेषता देकर एक नव्य-भव्य रूप में रक्खा है। इसी प्रकार और भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

सारांश अब यह है कि सूरदास और उनका काव्य हिन्दी-भाषा के क्षेत्र में सर्वथा अनुकरणीय सिद्ध होते हैं। किसी भी कवि और काव्य का मूल्य अथवा महत्व उनकी लोक-प्रियता और उनके लोक में प्रचार-समय की अवधि से भी देखा जाता है। दोनों के विचार से सूरदास और उनका काव्य बहुत ऊँचा है, क्योंकि सूर की रम्य रचना को जितनी ललित, लोक-प्रियता मिली है, जितना उसका प्रसार और प्रचार हिन्दू-समाज में हुआ है, उतना तुलसीदास की रुचिर रचना को छोड़कर और किसी भी कवि की किसी भी अन्य रोचक रचना को प्राप्त नहीं हुआ। सूर की रचना आज तक जीवित है और प्रतिदिन

उसके सुयश का कमनीय कलेश निखरता-बिखरता हुआ अधिकाधिक आकर्षक, हृदय-हर्षक और सराहनीय हो गया है। उसकी आयु ३०० वर्षों से भी अधिक हो चुकी है, फिर भी उसमें नित्य नूतनता ही मिलती है।

काव्य की परख की एक कसौटी यह भी है कि काव्य वही सत्काव्य है, जिसे एक बार ही पढ़कर पूर्ण संतोष न हो जाय, वरन् बार बार उसके पढ़ने की नयी उत्सुकता उत्पन्न हो, प्रत्येक बार उसके पढ़ने पर उसमें नवीन उत्कंठा उत्साह उठे और नूतन रमणीयता भी प्राप्त हो। काव्य का सराहनीय सौन्दर्य वास्तव में वही सुखद सौन्दर्य है जो कभी पुराना या जरा-जीर्ण-शीर्ण न हो और सदैव जिसकी रम्य रमणीयता और रोचकता उत्तरोत्तर बराबर बढ़ती ही रहे। हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में सूर-काव्य और उसी के समान तुलसी का काव्य भी इसी प्रकार का है। साथ ही काव्य-सौन्दर्य यही स्तुत्य है जो सर्वत्र सभी प्रकार के सरस-विरस व्यक्तियों को सदैव समान रूप में समाकर्षित और हर्षित कर सके। उक्त दोनों कवियों के काव्यों में यही श्लाध्य विशेषता पायी जाती है, इसलिये यह विचार एक प्रकार से नितांत निर्विवाद है कि सूर हिन्दी-कवियों में एक विशेष व गौरव पूर्ण ऊँचा स्थान रखते हैं।

एक और प्रशस्त विशेषता उनके काव्य में यह है कि वह मानव-प्रकृति की उन मूलभूत प्रवृत्तियों और उनकी मार्मिक विशेषताओं को लेकर चलता है, जो सार्वकालीन और सार्व-भौम सी ही हैं। इसीलिये उनके काव्य पर देश और समाज के आर्थिक, नैतिक, आदि अनेक भयंकर परिवर्तनों का भी कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। राज्य बदल गया, समाज बदल गया, भाषा में परिवर्तन हो गया, विचार-धारा में भी रूपान्तर हुआ, रीतियां व नीतियां भी बदल गयीं, किन्तु इन सब परिवर्तनों को अलग छोड़कर सूर का काव्य ज्यों का त्यों ही आज भी

राज-विराज ही नहीं रहा है, वरन् उसके महत्व में और भी अधिक सिद्ध और समृद्धि-वृद्धि हो गयी है और यह विश्वास किया जाता है कि ज्यों ही ज्यों हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य का प्रचार-प्रसार बढ़ेगा, जो अवश्यं-भावी है, त्यों ही त्यों सूर और उनके काव्य की कल-कीर्ति-कौमुदी अधिकाधिक ललित और कलित ही होती जायगी।

× × ×

चख, नभ, नभ, ऋषि विक्रमी संवत् माधव मास,
सूर - समीक्षा - सार यह, कियो "रसाल" प्रकास ।

× × ×

— —